तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग-१

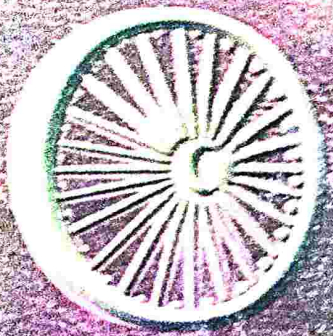

विपश्यना विशोधन विन्यास

विपश्यी साधकों के कल्याणार्थ

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग - १

विपश्यना आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग - १

विषय-सूची

भूमिका .....[१]
संकेत-सूची .....[९]

क्या है तिपिटक में? ५
क्या है पिटक? ५
क्या है तिपिटक? ७
तिपिटक का संपादन संगायन ९
क्या है तिपिटक में? १२

भौतिक रूपकाया १५
बुद्ध दुर्लभ १९
ब्राह्मण वावरी २०
ब्राह्मण सेल २१
परिव्राजक सुभद्र २४
अनाथपिंडिक २४
रूपकाया का सौंदर्य २५
ऋषि कालदेवल २६
आठ ब्राह्मण ज्योतिषाचार्य २७
किसा गोतमी २८

महाराज बिंबिसार २९
आजीवक उपक ३०
राहुल और राहुल-माता ३१
वत्सगोत्र ३२
महाशाल ब्राह्मण चंकी ३४
सोण ३५
बाहिय दारुचीरिय ३६
मागंधीय ३८
वक्कलि ३९
वैशाली का उग्र गृहपति ४१
हस्तिग्राम का उग्र गृहपति ४२
अतृप्त हत्थक आलवक ४२
उरुवेल काश्यप ४३
राजगृह के अश्रद्धालु नागरिक ४४
पुक्कुसाति ४४

रूपकाया की भंगुरता ४९
झुर्रियां पड़ गयीं ५१
दुष्कर-चर्या ५१
व्याधि-धर्मा ५२
कब्जियत ५४
पत्थर की चोट ५४
वातरोग ५५
कपिलवस्तु में रुग्ण ५५
बोज्झङ्ग ५६
नंदक ५६
नळकपान ५७
कपिलवस्तु –पावा ५७

भयंकर पीड़ादायक रोग ५७
चुंद भोजन ५९
मिथ्या मान्यता ६०
रूपकाया दुर्वल; धर्मकाया सवल ६१
मल्लपुत्र पुक्कुस ६२
दो अवसरों पर रूपकाया प्रभापूर्ण ६२
धर्मकाया की महाकरुणा ६४
रूपकाया का पूजन ६५
रूपकाया और स्तूप ६६
विशिष्ट लाभ ६७
आनंद को सांत्वना ६७
सुभद्र पर करुणा वरसी ६८
अंतिम वचन ६९
इच्छा मृत्यु ७०

धर्मकाया ७५
धर्मकाया अपरिमित ७७
कोशल-नरेश प्रसेनजित ७९
उदायी ८१
वुद्ध की सही पूजा ८१
रूपकाया और धर्मकाया का भेद ८५
चक्रवर्ती सम्राट से भिन्न ८७
क्या हैं वुद्ध गुण? ८७

इतिपि सो भगवा अरहं ९३
वीतराग सुख से सोता है ९६
कैसे जिन हैं? १०१

भवचक्र भंजन १०२
भवचक्र से कैसे छूटे ?.....१०४

हिंदी शब्दानुक्रमणिका.....[१]
पालि शब्दानुक्रमणिका .....[६]
संदर्भ सूची .....[१०]
नामों की अनुक्रमणिका .....[१२]
विपश्यना साहित्य .....[१७]
विपश्यना साधना के केंद्र.....[२२]

सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पयुट्ठे विनयम्हि च।
तमो पवित्थरति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विनष्ट हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

भूमिका

"तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध", "तिपिटक में सद्धर्म" और "तिपिटक में आर्यसंघ" वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या सावित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा वैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना

विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनों ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं।

स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए, इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ

सूत्रों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सूत्रों को पढ़ते समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सूत्रों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था, अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर होता गया। इस अमृत-सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से, सांप्रदायिक बाड़ेबंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे, निष्कलुष थे; जो अनंत मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दुःख-विमोचनी विपश्यना विद्या को पुनः प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९ में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो प्रकाशन किया था, वह अब सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि-साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे। हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अब उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अतः अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक वृहद भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही। कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा

मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि–

"भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।"

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक वृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

विचित्तं मालं गन्थेय्य – सुदर्शिनी माला गूंथे।

एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो

– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति?

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महार्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण बने!

उनके अपरिमित हित-सुख का कारण बने!

उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण बने!

उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण बने!

यही कल्याण कामना है।

बुद्ध जयंती, १९९५

कल्याणमित्र,

सत्यनारायण गोयन्का

संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
पारा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये – पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध - १

क्या है तिपिटक में?

क्या है तिपिटक में?

तिपिटक में क्या है इसे समझने के पहले, यह समझें कि पिटक क्या है? और क्या है तिपिटक?

क्या है पिटक?

जिसके पेट में हम कोई वस्तु सुरक्षित रख सकें, वह कहलाती है पेटी। उसे ही कहते हैं पेटिका या पिटारी। उसी को २६०० वर्ष पुराने उत्तर भारत की जनभाषा में कहते थे – पिटक। पिटक शब्द टोकरी या अन्य किसी भाजन के लिए भी प्रयुक्त हुआ करता था, क्योंकि वह भी सामान रखने के काम में आता है। जैसे कि –

ततो महाजनकायो धञ्ञं आहरेय्य, काजेहिपि पिटकेहिपि उच्छङ्गेहिपि अञ्जलीहिपि। (अ० नि० ३.८.८, उत्तरविपत्तिसुत्त)

– वहां से लोग धन-धान्य ढो-ढोकर ले आयें, कोई बहँगी में, कोई टोकरी या भाजन में, कोई पल्ले में, कोई अंजलि में।

इसी प्रकार जब श्रेष्ठि मेण्डक की पुत्रवधू के **चतुद्रोणिकं पिटकं** का उल्लेख आया, तो वहां अभिप्राय चार द्रोण के माप वाली टोकरी से ही है। यों ही जब कोई पेड़ की जड़ उखाड़ने के लिए **कुदालपिटकं** का प्रयोग करता है, तो वहां भी पिटक का अर्थ टोकरी ही है।

परंतु उन दिनों पिटक का एक और अर्थ भी प्रचलित था और वह था – धार्मिक वाङ्मय। अलग-अलग परंपराओं के अलग-अलग पिटक रहे होंगे। कालामसुत्त में जब भगवान ने **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त) कहा, तो अभिप्राय कालामों के परंपरागत धार्मिक वाङ्मय से ही था। इसी प्रकार वैशाली में भगवान ने जब भद्दिय लिच्छवी को **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.४.१९३, भद्दियसुत्त) कहा, अथवा

श्रावस्ती में भदंत नंदक ने जब मिगार के नाती को **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.३.६७, साळ्हसुत्त) कहा, तब अभिप्राय उन-उन के परंपरागत धार्मिक वाङ्मय से ही था, न कि पेटी या टोकरी से।

इसी प्रकार जब भगवान के बारे में कहा गया कि -

सामं सयमभिञ्ञातं अत्तपच्चक्खं धम्मं, न पिटकसम्पदाय।

(महानि० १९८, सारिपुत्तसुत्तनिद्देस)

- उन्हें स्वयं अभिज्ञात आत्म-प्रत्यक्ष धर्म प्राप्त हुआ; न कि पिटक संपदा से।

तो यहां भी पिटक का अर्थ किसी धार्मिक वाङ्मय से ही है, न कि पेटी या टोकरी से।

और जब आनंद ने संदक परिव्राजक से कहा -

इधेकच्चो सत्था... - यहां कोई शास्ता (धर्मगुरु),

सो अनुस्सवेन इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय धम्मं देसेति।

(म० नि० २.२३०, सन्दकसुत्त)

- परंपरागत पिटक संपदा से सुना सुनाया धर्म सिखाता है।

तो यहां भी पिटक का अर्थ उस शास्ता के धार्मिक वाङ्मय से ही है।

इसी प्रकार चङ्कीसुत्त में कापथिक माणवक ने जब यह कहा कि -

ब्राह्मणानं पोराणं मन्तपदं इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय...।

(म० नि० २.४२७, चङ्कीसुत्त)

यह ब्राह्मणों के पुरातन मंत्रपद की परंपरागत पिटक संपदा से है....

तो स्पष्ट ही उसका भी अभिप्राय ब्राह्मण परंपरा के धार्मिक वाङ्मय से ही था।

अतः प्रस्तुत संदर्भ में पिटक का अर्थ टोकरी न करके 'धार्मिक वाङ्मय' करना अधिक उपयुक्त है।

क्या है तिपिटक?

भगवान के जीवनकाल में समग्र बुद्धवाणी इन नौ भागों में विभाजित की गयी थी -

सुत्तं, गेय्यं, वेय्याकरणं, गाथा, उदानं, इतिवुत्तकं, जातकं, अब्भुतधम्मं, वेदल्लं।

(अ० नि० १.४.६, अप्पसुतसुत्त)

संभवतः इन्हीं को भगवान ने धम्म, विनय और मातिका कहा और आगे चल कर संभवतः ये ही सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक के नाम से संपादित एवं संगृहीत हुए।

'ये तीनों संग्रह तीन पेटियों या टोकरियों में अलग-अलग रखे जाते थे इसलिए **तिपिटक** कहलाये' - यह कथन युक्तियुक्त नहीं लगता। एक तो उन दिनों लेखन-कला का आविष्कार हो जाने पर भी वह बहुत श्रमसाध्य थी, दूसरे एक-एक विभाग का साहित्य इतना विशद था कि उसे पूर्णतया ताड़पत्रों या भोजपत्रों पर लिख कर एक-एक टोकरी में रखा जाना अव्यावहारिक लगता है। उन दिनों सभी परंपराओं के धार्मिक वाङ्मय श्रुति और स्मृति के आधार पर ही अक्षुण्ण रखे जाते थे। तब यही प्रथा थी। इसलिए लिखित धर्मवाणी के तीन विभागों को सुरक्षित रखने वाली तीन पेटियों या पिटकों को तिपिटक कहना समीचीन नहीं लगता।

वस्तुतः धर्मवाणी को इन तीन विभागों में पाल कर, सँभाल कर रखने वाला संपूर्ण साहित्य ही **तिपिटक** कहलाया। यह साहित्य तत्कालीन उत्तर भारत की प्राकृतिक जन-भाषा में है। इस भाषा ने इसे पाल कर, सँभाल कर रखा, अतः वह **पालि** कहलायी। यों दोनों मिलकर **तिपिटक-पालि** कहलाये।

यद्यपि किसी भी परंपरा के धार्मिक वाङ्मय को पिटक कहा जाता था, परंतु कालांतर में पिटक या तिपिटक बुद्ध-वचनों के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। भिक्षु महेंद्र जब अपने साथियों सहित श्रीलंका गये, तो उसका वर्णन करते हुए कहा गया -

विनयं ते वाचयिंसु, पिटकं तम्बपण्णिया। (दीप० ३, कथापञ्चतिवार)

– ताम्रपर्णी में उन्होंने विनयपिटक का वाचन किया।

तिपिटक में मुख्यतया भगवान बुद्ध की धर्मवाणी संगृहीत है, जो साधारणतया मानव-मात्र के लिए और विशेषतया विपश्यी साधकों के लिए प्रभूत पावन प्रेरणा और महामांगलिक मार्गदर्शन लिए हुए है। संपूर्ण तिपिटक में ८४,००० धर्म शिक्षापद (धर्मस्कंध) हैं, जिनमें ८२,००० भगवान बुद्ध के और २,००० उन भिक्षुओं के हैं, जो भगवान के परम शिष्य थे।

महास्थविर आनंद ने कहा है–

बासीति बुद्धतो गण्हि, द्वे सहस्सानि भिक्खुतो।
चतुरासीतिसहस्सानि, ये मे धम्मा पवत्तिनो॥

(थेरगा० १०२७, आनन्दत्थेरगाथा)

– मैंने ८२,००० उपदेश भगवान से ग्रहण किये हैं और २,००० भिक्षुओं से। इस प्रकार मुझे ८४,००० उपदेश याद हैं, जो मुझे धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं।

भिक्षुओं की वाणी में भी भगवान की वाणी ही समायी हुई है। उन्होंने जो कुछ कहा, भगवान से सीखकर ही कहा। इस विषय में आयुष्मान उत्तर का कथन है–

एवमेवं खो, देवानमिन्द, यं किञ्चि सुभासितं सब्बं तं तस्स भगवतो वचनं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स। ततो उपादायुपादाय मयञ्चञ्ञे च भणामाति।

(अ० नि० ३.८.८, उत्तरविपत्तिसुत्त)

– हे देवेंद्र, जो सुभाषित हैं, वे सब उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध के हैं। उन्हीं से ले-लेकर हम तथा अन्य बोलते हैं।

उन्होंने जो कुछ भगवान से सुना, सीखा और अपने अनुभव पर उतारा, वही कहा। जिस प्रकार भगवान तथागत **'यथावादी तथाकारी'** थे, वैसे ही उनके ये प्रबुद्ध शिष्य भी थे।

यथावादी तथाकारी, अहु बुद्धस्स सावको।

(सु० नि० ३५९, निग्रोधकप्पसुत्त)

जो बुद्ध का श्रावक शिष्य है वह वही करता है जो बोलता है।

इसलिए इन संतों की वाणी भी बुद्ध-वाणी के सदृश ही अत्यंत गरिमामयी है। स्वयं अनुभूत सत्य वाणी है। अतः सारे तिपिटक को बुद्ध-वाणी कहना समीचीन ही है।

तिपिटक का संपादन संगायन

तथागत द्वारा उपदेशित सद्धर्म को शुद्ध रूप में चिरस्थायी रखने के लिए स्वयं तथागत ने यह आदेश दिया था–

... ये वो मया धम्मा अभिञ्ञा देसिता, तत्थ सब्बेहेव सङ्गम्म समागम्म, अत्थेन अत्थं ब्यञ्जनेन ब्यञ्जनं सङ्गायितब्बं, न विवदितब्बं, यथयिदं ब्रह्मचरियं अद्धनियं अस्स चिरट्ठितिकं...। (दी० नि० ३.१७७, पासादिकसुत्त)

– ... जिन धर्मों को मैंने स्वयं अभिज्ञात करके तुम्हें उपदेशित किया है, तुम सब मिल-जुल कर विना विवाद किये अर्थ और व्यंजन सहित उनका संगायन करो जिससे कि यह धर्माचरण चिरस्थायी हो...।

अतः भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात देर-सवेर बुद्ध-वाणी का संपादन, संगायन तो होता ही परंतु उसे इतना शीघ्र आयोजित किये जाने का एक विशेष कारण उपस्थित हुआ।

वृद्धावस्था में प्रव्रजित हुए एक नये भिक्षु सुभद्र ने अपनी बाल-बुद्धि के कारण भगवान के महापरिनिर्वाण की सूचना पाने पर हर्ष प्रकट करते हुए यह घोर अमांगलिक घोषणा की–

सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन, उपद्दुता च होम – 'इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पती'ति।

– हम बिल्कुल मुक्त हो गये उन महाश्रमण से। उनके ऐसे आदेशों से सदा पीड़ित रहा करते थे, कि 'यह उचित है, यह अनुचित है'।

इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम, तं करिस्साम, यं न इच्छिस्साम, न तं करिस्साम। (दी० नि० २.२३२, महापरिनिब्बानसुत्त)

– अब हमारी जो इच्छा होगी वह करेंगे, जो इच्छा नहीं होगी, वह नहीं करेंगे।

कीचड़ में से कमल की भांति कभी-कभी घोर अमंगल में से भी महामंगल का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही हुआ। सुदृष्टी महास्थविर महाकश्यप ने भिक्षु सुभद्र के इन अभद्र शब्दों को सुन कर तत्क्षण यह निर्णय किया कि लोक-कल्याणार्थ बुद्ध-वाणी को चिरकाल तक अविकल रूप में सुरक्षित रखने के लिए शीघ्र ही संगायन का आयोजन करना चाहिए। अन्यथा इस प्रकार के अपरिपक्व स्वार्थी लोग इसमें से अपनी अनचाही बातें निकाल देंगे और मनचाही जोड़ देंगे। इसलिए उन्होंने हम पर अनुकंपा करके पांच सौ सत्य-साक्षी महास्थविरों को एकत्र कर तीन महीने के भीतर ही राजगृह में प्रथम संगायन का आयोजन किया जिसमें सारी बुद्ध-वाणी अपने शुद्ध रूप में संपादित एवं संगृहीत की गयी।

इस कार्य में बहुत विलंब हो जाता तो कौन जाने इतने सत्य-साक्षी महास्थविर एक साथ जुट पाते या नहीं। इस हेतु इस अनार्य सुभद्र का आभार मानें कि उसके कारण इतनी शीघ्रता से प्रथम संगायन का आयोजन हुआ।

परंतु वास्तविक आभार मानें भगवान के उन परम मेधावी उपस्थाक यानी सदा समीप रहने वाले निजी सेवक महास्थविर आनंद का जिन्होंने भगवान की सारी वाणी कंठस्थ कर ली थी और इस कारण अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका द्वारा संगायन को सफल बनाया। उनकी प्रशंसा में स्वयं भगवान ने कहा था –

आयस्मा आनन्दो अत्थकुसलो, धम्मकुसलो, ब्यञ्जनकुसलो, निरुत्तिकुसलो, पुब्बापरकुसलो। (अ० नि० २.५.१६९, खिणसुत्तनिद्देससुत्त)

– आयुष्मान आनंद अर्थकुशल है, धर्मकुशल है, व्यंजनकुशल है, निरुक्तिकुशल है, पूर्वापरकुशल है।

सेखो, भिक्खवे, आनन्दो, न च पनस्स सुलभरूपो समसमो पञ्ञाय।
(अ० नि० १.३.७९, सीलवन्तसुत्त)

– भिक्षुओ, आनंद (यद्यपि) शैक्ष्य है, तो भी प्रज्ञा में उसकी बराबरी करने वाला सुलभ नहीं।

परंतु भगवान के महापरिनिर्वाण के पश्चात प्रथम संगायन का आरंभ होते-होते आनंद शैक्ष्य से अशैक्ष्य हो गए, स्रोतापन्न से अरहंत हो गए।

आनंद की यह प्रशस्ति कितनी सही है –

बहुस्सुतो धम्मधरो, कोसारक्खो महेसिनो।
चक्खु सब्बस्स लोकस्स, आनन्दो परिनिब्बुतो॥
(थेरगा० १०५७, आनन्दत्थेरगाथा)

– बहुश्रुत, धर्मधर, महर्षि के कोषरक्षक सारे संसार के चक्षु-समान अरहंत आनंद परिनिर्वृत हो गये हैं।

और यह भी कि –

गतिमन्तो सतिमन्तो, धितिमन्तो च यो इसि।
सद्धम्मधारको धीरो, आनन्दो रतनाकरो॥
(थेरगा० १०५२, आनन्दत्थेरगाथा)

– गतिमान, स्मृतिमान, धृतिमान और सद्धर्म को धारण करने वाले भिक्षु आनंद (महा)स्थविर रत्नाकर हैं।

ऐसे सद्धर्मधारक आनंद का आभार मान कर हम आभार मानें पहले से छठे संगायन तक के उन सभी महास्थविरों का भी, जिन्होंने बुद्ध-वाणी को शुद्ध रूप में सुरक्षित रखने के लिए उसका पुनः-पुनः संगायन किया।

आभार मानें उन महा-मेधावी तिपिटकधर महास्थविरों का भी, जिन्होंने भगवान के आदेशानुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी तिपिटक के विशाल वाङ्मय को आदरणीय आनंद की भांति कंठस्थ रखने की स्वस्थ परंपरा कायम रखी। भगवान ने स्वयं बताया कि जिन कारणों से सद्धर्म कायम रहेगा और वह अंतर्धान नहीं होगा, उनमें से एक यह है –

ये ते भिक्खू बहुस्सुता आगतागमा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा, ते सक्कच्चं सुत्तन्तं परं वाचेन्ति।

– जो बहुश्रुत, परंपरागत आगम के जानकार, धर्मधर, विनयधर, मातिकाधर (यानी धर्म, विनय और मात्रिका को कंठस्थ कर रखने वाले) भिक्षु हैं, वे दूसरों को ठीक से सुत्त का अध्यापन कराते हैं।

तेसं अच्चयेन नच्छिन्नमूलको सुत्तन्तो होति सप्पटिसरणो।

(अ० नि० १.४.१६०, सुगतविनयसुत्त)

– उनकी शरीर-च्युति हो जाने पर भी सूत्रों की परंपरा अविच्छिन्न रूप से स्थायी रहती है।

इसी कारण सद्धर्म अपने मूल रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रहा है। **चिरं तिट्ठतु सद्धम्मो** की इसी पावन परंपरा को पिछले दिनों तक ब्रह्मदेश के परम पूज्य तिपिटकधर धम्मभण्डागारिक मिंगोन महास्थविर भदंत विचित्तसाराभिवंस निभाते रहे हैं। इस स्वस्थ परंपरा को जीवित रखने के लिए आज की पीढ़ी के चार अन्य मेधावी भिक्षुओं ने भी तिपिटक कंठस्थ कर रखा है।

क्या है तिपिटक में?

आओ, संक्षेप में समझें कि क्या है भगवद्-वाणी में? क्या है तिपिटक में?

भगवद्-वाणी के समस्त **नभोमंडल** पर भगवान गौतम बुद्ध के महान व्यक्तित्व की सुधा-वर्षिणी घनी बदलियां छायी हुई हैं, जो शीतलता, शांति, स्वस्ति और मुक्ति प्रदायिनी हैं। इस वाङ्मय में हम भगवान बुद्ध की उस विशिष्ट सुषमामयी भौतिक रूप-काया का मनोहारी दर्शन करते हैं, जो इतनी आकर्षक थी कि हर किसी को चुंबक की तरह सहज ही अपनी ओर खैंच लेती थी। परंतु उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी असीम, अद्भुत, आश्चर्यजनक और कल्याणकारिणी धर्मकाया, ब्रह्मकाया, बोधिकाया का दर्शन करते हैं, जो तिपिटक में **अमूर्त** रूप से सर्वत्र छायी हुई है।

भौतिक रूपकाया

भौतिक रूपकाया

उन दिनों के वैदिक साहित्य में महापुरुष के शरीर-लक्षण का एक अलग शास्त्र हुआ करता था, जो दुर्भाग्य से अब विलुप्त है। उस शास्त्र में लोकायत यानी ग्रह-नक्षत्र आदि सांसारिक बातों की जानकारी के साथ-साथ शरीर-लक्षण का विशद विवरण भी था, जिसमें विशेषकर महापुरुष के बत्तीस शारीरिक लक्षणों का स्पष्ट उल्लेख था। उन दिनों के ब्राह्मण आचार्य-प्राचार्य जिन विशिष्ट शास्त्रों में निपुण होते थे उनमें अपने शिष्यों को निपुण बना कर, अपनी ही तरह उनके ज्ञानसंपन्न होने को इन शब्दों में स्वीकार करते थे – **यमहं जानामि तं त्वं जानासि, यं त्वं जानासि, तमहं जानामि** – जो मैं जानता हूं सो तू जानता है, जो तू जानता है सो मैं जानता हूं। ऐसा व्यक्ति – **अज्झायको, मन्तधरो, तिण्णं वेदानं पारगू, सनिघण्डु-केटुभानं साक्खरप्पभेदानं, इतिहासपञ्चमानं, पदको, वेय्याकरणो, लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयो** (दी० नि० १.२५६, अम्बट्ठसुत्त) यानी अध्यायक, मंत्रधर, तीनों वेदों में पारंगत, चौथे निघंटु-निरुक्ति-अक्षर-भेद-प्रभेद ज्ञान में कुशल और पांचवें इतिहास का जानकार तथा पदज्ञ (कवि), वैय्याकरण, लोकायत यानी सांसारिक विषयों का तथा महापुरुष-लक्षण-शास्त्र का पूर्ण मर्मज्ञ होता था। इस शास्त्र के अनुसार जिस व्यक्ति के शरीर में बत्तीस महापुरुष लक्षण हों, वह गृही रहने पर सागर-पर्यंत पृथ्वी का एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट होता और गृह-त्यागी होने पर परम विमुक्त अरहंत सम्यक संबुद्ध।

उन दिनों शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों में यह मान्यता बहुत प्रचलित थी। इसी कारण हम देखते हैं कि जब कभी कोई विद्वान ब्राह्मण, भगवान के बारे में फैला हुआ यह कल्याणमय कीर्ति-शब्द, **कल्याणो कित्तिसद्दो,** सुनता कि – **इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो...** तो स्वयं उनके पास जाता अथवा अपने किसी शास्त्रज्ञ शिष्य को भेजता, जिससे कि यह जांच हो सके कि

गौतम वैसे ही हैं या वैसे नहीं हैं, जैसा कि उनका कीर्ति-शब्द फैला है - **यदि वा सो भवं गोतमो तादिसो, यदि वा न तादिसो।** (दी० नि० १.२५८, अम्बट्ठसुत्त) क्या वे सचमुच ऐसे हैं, अथवा नहीं हैं?

इस जांच पर जाने वाला व्यक्ति जब भगवान बुद्ध से मिलता तो पहले यही देखता कि उनके शरीर पर सभी शास्त्रोक्त चिह्न हैं या नहीं। ऐसी ही एक जांच के परिणामस्वरूप हमें इन बत्तीस लक्षणों का पृथ विवरण मिलता है, जबकि वयोवृद्ध ब्राह्मण नेता ब्रह्मायु ने अपने विद्वान षट्-शिष्य युवा उत्तरमाणवक को भगवान के बारे में फैली हुई कीर्ति का स्वयं निरीक्षण-परीक्षण करने के लिए भेजा। शरीर के ये बत्तीस लक्षण उनके व्यक्तित्व को औरों से अलग एक भव्य विशिष्टता प्रदान करते थे।

बत्तीस लक्षण ये हैं;-

(१) **सुप्पतिट्ठितपादो** (सुप्रतिष्ठित पाद) - पांव के तलवे समतल होते हैं। उनमें खड्डे नहीं होते और इस कारण पांव जमीन पर समतल पड़ते हैं।

(२) **पादतलेसु चक्कानि जातानि सहस्सारानि सनेमिकानि सनाभिकानि सब्बाकारपरिपूरानि** (चक्र वरंकित) - पैरों के दोनों तलवों में चक्र अंकित होते हैं, जो नाभि, नेमि तथा सहस्र आरों से सर्वाकार परिपूर्ण होते हैं।

(३) **आयतपण्हि** (आयत-पार्ष्णि) - पांव की एड़ियां सामान्य जन की एड़ियों की तुलना में अधिक लंबी और चौड़ी होती हैं।

(४) **दीघङ्गुलि** (दीर्घ अंगुल) - हाथों और पांवों की अँगुलियां लंबी होती हैं।

(५) **मुदुतलुनहत्थपादो** (मृदु तरुण हस्त-पाद) - हाथ और पांव रूखे और कड़े नहीं बल्कि मृदुल और तरुण होते हैं।

(६) **जालहत्थपादो** (जाल हस्त-पाद) - हाथ और पांव की अँगुलियों के बीच थोड़ी सी दूर में ऐसी जालनुमा त्वचा होती है, जैसी कि हंस, बतख आदि के पंजों में होती है, जिससे दो अँगुलियों के बीच कोई विवर नहीं रहता।

(७) **उस्सङ्खपादो** (उत्संख पाद) - पांव के टखने यानी गुल्फ सामान्य जन के टखनों की तुलना में जरा ऊपर की ओर स्थित होते हैं।

(८) **एणिजङ्घो** (एणी जंघ) - एणी जाति के मृग की सी सुंदर जांघें होती हैं।

(९) **परिमसति परिमज्जति** (आजानुबाहु) - इतनी लंबी भुजाएं कि सीधे खड़े होने पर जरा भी झुके बिना हथेलियों से अपने घुटनों को थपथपा सकें, मसल सकें, यानी घुटनों तक की लंबी भुजाएं होती हैं।

(१०) **कोसोहितवत्थगुय्हो** (कोषाच्छादित वस्तिगुह्य) - पुरुषेंद्रिय त्वचा-कोष में गुप्त, गुंफित रहता है।

(११) **सुवण्णवण्णो** (सुवर्ण वर्ण) - त्वचा कंचनवर्णी होती है।

(१२) **सुखुमच्छवि** (सूक्ष्म-छवि) - शरीर की चमड़ी पर एक सूक्ष्म त्वचा मढ़ी होती है, जिस पर धूल आदि नहीं सटती।

(१३) **एकेकलोमो** (एकैक लोम) - प्रत्येक लोम-कूप में एक-एक लोम होता है।

(१४) **उद्धग्गलोमो** (ऊर्ध्वाग्र लोम) - सभी लोम बाएं से दाहिनी ओर कुंडलित होते हैं और उनके सिरे ऊपर की ओर स्थित होते हैं।

(१५) **ब्रह्मुजुगत्तो** (ब्राह्मऋजु-गात्र) - शरीर लंबा और सीधा होता है जिसके कारण लोग उन्हें **ब्रहा उजु** कहते हैं।

(१६) **सत्तुस्सदो** (सप्त उत्सद) - दोनों हाथ, दोनों पांव, सामने और पीछे की धड़ और चेहरे सहित मस्तिष्क - शरीर के ये सातों अंग विशाल और पूर्ण आकार वाले होते हैं।

(१७) **सीहपुब्बद्धकायो** (सिंह-पूर्वार्द्ध-काय) - छाती सहित काया का ऊपरी भाग सिंह का सा होता है।

(१८) **चितन्तरंसो** (चितांतरांस) – दोनों कंधों के बीच का भाग भरा-पूरा होता है।

(१९) **निग्रोधपरिमण्डलो** (न्यग्रोध परिमंडल) – न्यग्रोध वृक्ष जितना ऊंचाई में बढ़ता है, ठीक उतना ही चौड़ाई में फैलता है। इसी प्रकार खड़े होकर दोनों लंबे हाथों को दोनों ओर फैला देने से जितना व्याम यानी शरीर की चौड़ाई का माप बनता है, उतना ही सिर से पांव तक की ऊंचाई का माप होता है।

(२०) **समवट्टक्खन्धो** (समवर्त स्कंध) – समान गोलाकार कंधे होते हैं।

(२१) **रसग्गसग्गी** (रस रसाग्रि) – समस्त रसों का पूर्णतः आस्वादन करने वाली जीभ तथा उससे जुड़ी हुई गले तक उभरी हुई एक नस होती है।

(२२) **सीहहनु** (सिंह हनु) – सिंह की सी सुंदर, चौड़ी ठोड़ी होती है।

(२३) **चत्तालीसदन्तो** (चत्तालीस दंत) – चालीस दांतों से भरा-पूरा भव्य चेहरा होता है।

(२४) **समदन्तो** (समदंत) – दांत आगे-पीछे न होकर समान पंक्तिबद्ध होते हैं।

(२५) **अविरळदन्तो** (अविवर दन्त) – दांतों के बीच विवर अर्थात छेद नहीं होते हैं।

(२६) **सुसुक्कदाठो** (सुशुक्ल दाढ़) – दाढ़(दांत) अत्यंत शुक्ल होते हैं।

(२७) **पहूतजिव्हो** (प्रभूत जिव्हा) – बहुत लंबी जीभ होती है।

(२८) **ब्रह्मस्सरो** (ब्रह्म स्वर) – करविंक पक्षी (कोयल) के स्वर के समान निन्नादी ब्रह्म-स्वर होता है।

(२९) **अभिनीलनेत्तो** (अभिनील नेत्र) – अलसी के फूल जैसी सुंदर नीली आंखें होती हैं।

(३०) **गोपखुमो** (गो-पक्ष्म) – गाय की सी बड़ी-बड़ी सुंदर बरौनियां (पलकों के बाल) होती हैं।

(३१) **ओदाता उण्णा** (श्वेत ऊर्णा) – **उण्णा भमुकन्तरे जाता ओदाता मुदुतूलसन्निभा** – दोनों भौहों के बीच श्वेत, सुंदर, कोमल रूई सदृश रोमावली होती है।

(३२) **उण्हीससीसो** (उष्णीष शीर्ष) – सिर के ऊपर बीचोबीच उठा हुआ एक उपशीष होता है, मानो सिर पर एक जटामुकुटनुमा पगड़ी बँधी हो। इस एक चिह्न के कारण आज भी कोई बुद्ध मूर्ति अन्य ध्यानावस्थित मूर्तियों से स्पष्टतया भिन्न दीखती है।

(म० नि० २.३८६, ब्रह्मायुसुत्त)

इनमें से कुछ एक शरीर लक्षण स्पष्ट देखे जा सकते थे और अत्यंत भव्य तथा दर्शनीय होने के कारण किसी भी सामान्य व्यक्ति को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे।

बुद्ध दुर्लभ

उन दिनों किसी के शरीर पर संपूर्ण बत्तीस महापुरुष लक्षण किसी ने नहीं देखे थे। उनका उल्लेख केवल शास्त्रों में ही था। बावरी ब्राह्मण जैसे किसी एक व्यक्ति के शरीर पर तीन लक्षण भले हों – **तीणिस्स लक्खणा गत्ते** – (सु० नि० १०२५, पारायणवग्ग, वत्थुगाथा), परंतु बत्तीस लक्षणों वाले व्यक्ति को लोगों ने न कभी देखा था, न उनके बारे में सुना था। ऐसे बत्तीस महापुरुष लक्षणों वाला कोई व्यक्ति हो और वह भी एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट न होकर गृह-त्यागी सम्यक संबुद्ध हो, यह बहुत दुर्लभ बात थी। जो व्यक्ति अनगिनत कल्पों के असंख्य जन्मों में आत्महित और परहित में संलग्न रहता हुआ अपनी सभी पारमिताएं परिपूर्ण कर लेता है, तब अपने अंतिम जन्म में सम्यक संबुद्ध बनता है। सचमुच यह बड़ी दुर्लभ बात है।

इसी कारण स्थान-स्थान पर हम ऐसे वक्तव्य देखते हैं –

तथागतस्स अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स, इमस्स खो, भिक्खवे, एकपुग्गलस्स पातुभावो दुल्लभो लोकस्मिं; (अ० नि० १.१.१७१, एकपुग्गलवग्ग)

– जो तथागत अर्हत सम्यक संबुद्ध हो, ऐसे एक व्यक्ति का लोक में प्रादुर्भाव दुर्लभ है;

सम्मासम्बुद्धस्स पातुभावो दुल्लभो लोकस्मिं ;

(अ० नि० २.५.१३५, पिट्ठियानीसुत्त)

– संसार में सम्यक संबुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है;

बिच्छी बुद्धानमुप्पादो – बुद्धों का उत्पन्न होना कठिन है;

(ध० प० १८२, बुद्धवग्ग)

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो – उत्तम पुरुष दुर्लभ हैं; (ध० प० १९३, बुद्धवग्ग)

यानी बुद्ध उत्पाद दुर्लभ है।

बुद्धो लोकम्हि उप्पन्नो, मनुरसत्तम्पि दुल्लभं।
उभोसु विज्जमानेसु, सवनञ्च सुदुल्लभं॥

(अप० थेर २.४९.१७, बुद्धसञ्ञकत्थेरअपदान)

– संसार में बुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है। प्राणी का मनुष्य योनि में जन्म दुर्लभ है। ये दोनों विद्यमान हों तो बुद्ध द्वारा उपदेशित धर्म का श्रवण दुर्लभ है।

हम देखते हैं कि यह मान्यता उस समय के ब्राह्मणों में इतनी अधिक प्रचलित थी कि जब कोई विद्वान ब्राह्मण बुद्ध के उत्पन्न होने की बात सुनता था तो उसे एकाएक विश्वास नहीं होता था। परंतु जब स्वयं जाकर या अपने किसी शिष्य को भेज कर जांच करवाता था तो सच्चाई देख कर बड़ा प्रभावित हो जाता था। केवल एक दो नहीं, ऐसे अनेक ऐतिहासिक प्रसंग हमारे सामने आते हैं।

ब्राह्मण बावरी

कोशल-नरेश का पूर्व पुरोहित, सौ वर्ष का वयोवृद्ध बहुश्रुत ब्राह्मण बावरी दक्षिण में गोदावरी के तट पर आश्रम बना कर रहता था। जब उसने यह सुना कि लोक में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं, तो धर्म संवेग के कारण उत्साहित

हो उठा। स्वयं यात्रा के लिए असमर्थ था, अतः अपने सोलह प्रमुख शिष्यों को श्रावस्ती भेजते हुए उसने आदेश दिया –

यस्सेसो दुल्लभो लोके, पातुभावो अभिण्हसो।
स्वाज्ज लोकम्हि उप्पन्नो, सम्बुद्धो इति विस्सुतो।
खिप्पं गन्त्वान सावत्थिं, पस्सथो द्विपदुत्तमं॥

(सु० नि० १००४, पारायनवग्ग, वत्थुगाथा)

– संसार में जिनका प्रादुर्भाव सदा दुर्लभ है, संबुद्ध नाम से विश्रुत वे इस समय संसार में उत्पन्न हुए हैं। शीघ्र श्रावस्ती जाकर उन मानव-श्रेष्ठ का दर्शन करो।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उसने अपने जिन सोलह परिपक्व शिष्यों को भेजा, उनमें से प्रत्येक स्वयं विश्व-विश्रुत गणी आचार्य था –

पच्चेकगणिनो सब्बे, सब्बलोकस्स विस्सुता।

(सु० नि० १०१५, पारायनवग्ग, वत्थुगाथा)

वे सब लंबी यात्रा करके भगवान के पास पहुँचे। पहले उन्होंने उनके बत्तीस महापुरुष लक्षणों को जांचा और फिर उनकी संबोधि जांचने के लिए उन्होंने धर्म संबंधी गंभीर प्रश्न किये और उनके उत्तर सुन कर वे पूर्ण आश्वस्त हुए।

ब्राह्मण सेल

हम देखते हैं कि कुछ एक अन्य श्रमण भी अपने आपको बुद्ध घोषित करने में गौरव महसूस करते थे। सचमुच उन दिनों बुद्ध शब्द अत्यंत गौरव-गरिमा का प्रतीक था। लेकिन यह भी सच है कि अपने आपको बुद्ध घोषित करने वाले ऐसे लोग बहुत कम थे। इसलिए बहुत से लोगों ने यह सुना भी नहीं कि संसार में कोई बुद्ध उत्पन्न हुआ है। तभी कुछ लोग बुद्ध का नाम सुनते ही अत्यंत आश्चर्य-चकित हो उठते थे।

उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण सेल और जटिल केणिय के वार्त्तालाप का एक प्रसंग हमारे सामने आता है। ब्राह्मण सेल अपने मित्र जटिल केणिय से

मिलने आया है। वह देखता है कि केणिय के सभी शिष्य-सेवक, संगी-साथी बृहद भोज की तैयारी में लगे हैं। कारण पूछने पर केणिय जटिल कहता है – "मैंने कल के भोजन के लिए साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के बड़े संघ के साथ भगवान बुद्ध को आमंत्रित किया है।"

यह सुन कर आश्चर्य-चकित हो ब्राह्मण सेल पूछता है –

बुद्धोति, भो केणिय, वदेसि – हे केणिय, क्या तू बुद्ध कहता है?

बुद्धोति, भो सेल, वदामि – हां, सेल, मैं बुद्ध कहता हूं।

ब्राह्मण सेल को विश्वास नहीं हो रहा है। अतः वह अपना प्रश्न दोहराता है –

बुद्धोति, भो केणिय, वदेसि – हे केणिय, क्या तू बुद्ध कहता है?

उसे फिर वही उत्तर मिलता है –

बुद्धोति, भो सेल, वदामि – हां, सेल, मैं बुद्ध कहता हूं।

तीसरी बार भी यही उत्तर सुन कर ब्राह्मण सेल के मन में यह विचार उठता है –

घोसोपि खो एसो दुल्लभो लोकस्मिं यदिदं बुद्धोति। (सु० नि०, सेलसुत्त)

– संसार में बुद्ध शब्द का घोष भी सुन पाना दुर्लभ है।

बुद्धो बुद्धोति सुत्वान, पीति मे उदपज्जथ।

(अप० थेर १.४०.२६१, सेलत्थेरअपदान)

– 'बुद्ध', 'बुद्ध' ये शब्द सुन कर मेरे भीतर प्रीति-प्रमोद उत्पन्न हो गया है।

परंतु क्या यह व्यक्ति सचमुच बुद्ध है? सचमुच बत्तीस महापुरुषलक्षणधारी है? इसे जांचने के लिए वह स्वयं भगवान से मिलने जाता है।

उनके शरीर पर स्थित सभी महापुरुष लक्षणों को स्वयं जांचता है। साथ ही वह भगवान के रूप-माधुर्य से भी बहुत प्रभावित होता है और

उनकी शिक्षा ग्रहण करने के पूर्व ही भावविभोर होकर उनकी प्रशंसा में जो कुछ कहता है वह ध्यान देने योग्य है –

परिपुण्णकायो सुरुचि, सुजातो चारुदस्सनो।
सुवण्णवण्णोसि भगवा, सुसुक्कदाठोसि विरियवा॥

(सु० नि० ५५३, सेलसुत्त)

– आप परिपूर्ण शरीर वाले हैं, सुरुचि हैं, सुजात हैं, चारुदर्शन हैं। आप सुवर्णवर्ण हैं, अत्यंत उज्ज्वल दांत हैं आपके, आप वीर्यवान हैं।

पसन्ननेत्तो सुमुखो, ब्रहा उजु पतापवा। (सु० नि० ५५५, सेलसुत्त)

– आप निर्मल नेत्र वाले हैं, सुमुख हैं, दीर्घ और ऋजु शरीरधारी हैं, प्रतापवान हैं।

ऐसा अनुपम शरीर-सौंदर्य देख कर और महापुरुषों के सभी लक्षण देख कर वह भगवान को एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट होने का सुझाव देता है, मानो भगवान की संबोधि जांच रहा हो। उस प्रस्ताव को ठुकराते हुए भगवान उसे अपना संदेह मिटाने के लिए कहते हैं –

विनयस्सु मयि कङ्खं, अधिमुच्चस्सु ब्राह्मण।
दुल्लभं दस्सनं होति, सम्बुद्धानं अभिण्हसो॥

(सु० नि० ५६४, सेलसुत्त)

– हे ब्राह्मण, मेरे बारे में शंका-संदेह दूर कर, श्रद्धा जगा। सम्यक संबुद्धों के दर्शन सदा दुर्लभ होते हैं।

येसं वे दुल्लभो लोके, पातुभावो अभिण्हसो।
सोहं ब्राह्मण सम्बुद्धो, सल्लकत्तो अनुत्तरो॥

(सु० नि० ५६५, सेलसुत्त)

– हे ब्राह्मण, संसार में जिनका प्रादुर्भाव सदा दुर्लभ है, मैं वह अनुत्तर शल्यकर्ता सम्यक संबुद्ध हूं।

अंततः पूर्ण आश्वस्त होकर अपने तीन सौ शिष्यों सहित सेल ब्राह्मण भगवान से प्रव्रज्या ग्रहण करता है।

जब किसी को यह विश्वास हो जाता था कि महाश्रमण गौतम सचमुच सम्यक संबुद्ध हैं, तो उनका अनुगामी बनने में उसे हिचक नहीं होती थी; क्योंकि तब उसे यह भी खूब समझ में आ जाता था कि –

बहूनं वत अत्थाय, उप्पज्जन्ति तथागता। (थेरगा० १२६५, वङ्गीसत्थेरगाथा)

– बहुतों के हित के लिए, उनकी अर्थ-सिद्धि के लिए ही वस्तुतः बुद्ध उत्पन्न होते हैं।

इसीलिए कहा गया –

सुखो बुद्धानमुप्पादो – बुद्धों का उत्पन्न होना सुखदायी है।

(ध० प० १९४, बुद्धवग्ग)

परिव्राजक सुभद्र

बुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है – यह मान्यता ब्राह्मणों के अतिरिक्त औरों में भी थी। हम परिव्राजक सुभद्र को यह कहते हुए देखते हैं –

सुतं खो पन मेतं परिब्बाजकानं बुद्धानं महल्लकानं आचरियपाचरियानं भासमानानं – कदाचि करहचि तथागता लोके उप्पज्जन्ति अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा। (दी० नि० २.२१२, महापरिनिब्बानसुत्त)

– मैंने वयोवृद्ध महल्लक, परिव्राजक, आचार्य-प्राचार्यों को यह कहते सुना है कि कदाचित ही, कभी-कभी लोक में तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध उत्पन्न होते हैं।

अनाथपिंडिक

ब्राह्मण और परिव्राजक ही नहीं, समाज के अन्य वर्गों में भी बुद्ध की महानता और उनके उत्पाद की दुर्लभता बहुमान्य थी। इससे संबंधित धनी वैश्य वर्ग के प्रतिनिधि-स्वरूप श्रेष्ठि अनाथपिंडिक के जीवन की एक घटना हमारे सामने है।

श्रावस्ती का श्रेष्ठि अनाथपिंडिक राजगृह के श्रेष्ठि का बहनोई था। उसका व्यवसाय दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह बहुधा अपने व्यवसाय के सिलसिले में और कभी-कभी अन्य कारणों से राजगृह आया करता था। इस बार आया तो देखा कि उसका साला बहुत व्यस्त है, किसी बड़े भोज की तैयारी में लगा है, मानो उसके यहां कोई आवाह-विवाह हो या किसी महान यज्ञ का आयोजन हो अथवा महाराज बिंबिसार मेहमान बन कर आने वाले हों। पूछने पर अनाथपिंडिक को बताया गया कि ये तीनों बातें सच नहीं हैं। वस्तुतः कल उसके यहां विशाल भिक्षु संघ के साथ भगवान बुद्ध भोजन के लिए पधार रहे हैं।

संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं, यह सुनने मात्र से अनाथपिंडिक साश्चर्य प्रसन्नता से भर उठा।

घोसोपि खो एसो, गहपति, दुल्लभो लोकस्मिं यदिदं – बुद्धो, बुद्धो।

(चूळव० ३०४, अनाथपिण्डिकवत्थु)

– हे गृहपति, संसार में 'बुद्ध', 'बुद्ध' यह शब्द तक सुनना दुर्लभ है।

और तुम कह रहे हो कि संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं! वे कल तुम्हारे यहां भोजन के लिए पधार रहे हैं!

बुद्ध की उत्पत्ति सचमुच अत्यंत दुर्लभ होती है, सचमुच अत्यंत लोक हितकारिणी होती है। बहुतों के हित के लिए, सुख के लिए जो व्यक्ति अपनी सहज प्राप्य मुक्ति को त्यागता है और असंख्य कल्पों तक अनगिनत जन्मों में पारमिताएं पूरी करने का कष्ट सहन करता है, उसकी उत्पत्ति सचमुच दुर्लभ है; लोक-कल्याणकारिणी है; लोक-हर्षदायिनी है।

रूपकाया का सौंदर्य

यह सच है कि किसी सम्यक संबुद्ध की रूपकाया के दर्शन करने मात्र से, अथवा उनके अपूर्व सौंदर्य और महापुरुष लक्षणों की सराहना करने मात्र से सही लाभ नहीं मिलता। सही लाभ तो बुद्ध की शिक्षा ग्रहण करने से ही मिलता है। परंतु हम देखते हैं कि कुछ लोगों के लिए उनकी रूपकाया की

सुंदरता ही प्रथम आकर्षण का कारण बनी। ऐसा एक उदाहरण है ऋषि कालदेवल का।

ऋषि कालदेवल

बुद्ध-वाणी का पारायण करते हुए हम देखते हैं कि पहला व्यक्ति जो नवजात शिशु बोधिसत्त्व की रूपकाया देख कर भाव-विभोर हुआ, वह था ब्राह्मण ऋषि कालदेवल। श्यामवर्णी होने के कारण वह कान्हदेवल तथा असितदेवल भी कहलाता था। वह तत्कालीन ब्राह्मण समाज में बहुत विख्यात और प्रतिष्ठित था। वह शाक्य तथा कोलिय राजघरानों का धर्मगुरु भी था। लेकिन उसकी अधिक रुचि ध्यान भावना में थी। उसने आठों ध्यान साध लिए थे और अभिज्ञाओं (**अभिञ्ञा**) की अनेक सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं। एक बार देवलोक में देवों से संपर्क होने पर उसने देखा कि वहां बड़ी खुशियां मनायी जा रही हैं। पूछने पर पता चला कि मनुष्य लोक में उस बोधिसत्त्व का जन्म हुआ है, जिसने अपनी सारी पारमिताएं पूरी कर ली हैं और यह उसका अंतिम जन्म है। यही बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि प्राप्त करेगा और फिर अनुत्तर धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा, जिससे अनेक देव मनुष्यों का हित सधेगा। उसे यह जान कर विशेष प्रसन्नता हुई कि यह बोधिसत्त्व उसके यजमान महाराज शुद्धोदन के घर महारानी महामाया की कोख से जन्मा है। वह तत्काल शुद्धोदन के यहां पहुँचा। वहां उसने नवजात शिशु को देखा जो अत्यंत सुंदर और तेजस्वी था। उसके शरीर-सौंदर्य का वर्णन कालदेवल ने इन शब्दों में किया –

अनोमवण्णं – यह श्रेष्ठ वर्ण वाला है,

सिखिमिव पज्जलन्तं – अग्निशिखा सदृश प्रज्वलित है,

सुवण्णनिक्खं विय पण्डुकम्बले – जैसे पीले कंवल पर रखी स्वर्ण मुद्रा हो।

ऋषि कालदेवल ने शिशु बोधिसत्त्व के सुंदर शरीर पर महापुरुषों के लक्षणों को देखा और अत्यंत भावविभोर होकर उसने यह भविष्यवाणी की –

अनुत्तरायं द्विपदानमुत्तमो – यह द्विपदों में अर्थात मनुष्यों में उत्तम पुरुष है और अनुत्तर है, यानी सर्वश्रेष्ठ है और इस कारण –

सम्बोधियग्गं फुसिस्सतायं कुमारो, सो धम्मचक्कं परमविसुद्धदस्सी।
वत्तेस्सतायं बहुजनहितानुकम्पी, वित्थारिकस्स भविस्सति ब्रह्मचरियं॥

(सु० नि० ६९१, ६९२, ६९४, ६९५, ६९८, नालकसुत्त)

– यह कुमार परम विशुद्ध निर्वाणदर्शी होकर संबोधि प्राप्त करेगा। बहुजनों के हित के लिए अनुकंपा करता हुआ धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा और इसकी शिक्षा यानी **ब्रह्मचरिया, धम्मचरिया** दूर-दूर तक फैलेगी। (यह भविष्यवाणी कितनी सत्य सिद्ध हुई!)

वह इस प्रकार भगवान की रूपकाया से आनंदित हुआ, परंतु अपनी बहुत कम बची हुई आयु देख कर दुःखी भी हुआ क्योंकि जब तक यह बालक सम्यक संबुद्ध बनेगा तब तक वह स्वयं मृत हो चुका होगा। अतः स्पष्ट था कि वह भगवान की धर्मकाया से लाभान्वित नहीं हो पायेगा। इसलिए उसने अपने भानजे नालक को प्रेरित किया और कहा कि यह बालक बड़ा होकर जब सम्यक संबुद्ध बने, तब उससे धर्म सीख कर जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त कर लेने का अवसर न चूके। नालक ने आगे चल कर यही किया। बुद्ध की धर्मकाया का लाभ ऋषि देवल को नहीं मिला, परंतु उसके भानजे नालक को मिला।

आठ ब्राह्मण ज्योतिषाचार्य

तत्पश्चात पिता शुद्धोदन के निमंत्रण पर आये हुए उस समय के आठ प्रसिद्ध ब्राह्मण ज्योतिषाचार्यों ने शास्त्रों के आधार पर बालक का भविष्य बतलाया। सबने बालक के शरीर पर बत्तीस महापुरुष लक्षण देखे। यह देख

कर उनमें से सात ने यह भविष्यवाणी की कि बड़ा होकर यदि यह गृही रहा तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और गृह-त्यागी हुआ तो सम्यक संबुद्ध बनेगा।

क्योंकि ऐसे शरीर-लक्षण वाले की -

द्वेयेव तस्स गतियो, ततिया हि न विज्जति

(सु० नि० १००७, वत्थुगाथा, पारायनवग्ग)

- दो ही गतियां होती हैं, तीसरी नहीं।

ब्राह्मण कौंडन्य जो उन ज्योतिषाचार्यों में सबसे कम आयु का था, उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि यह बालक विवृत-कपाट सम्यक संबुद्ध ही होगा। बालक की सुलक्षणी रूपकाया की अनोखी विशिष्टता से आठों ब्राह्मण प्रभावित हुए, पर भाग्यशाली अकेला कौंडन्य निकला जिसने आगे चल कर अपने चार अन्य साथियों सहित भगवान के धर्मचक्र प्रवर्तन का उपदेश सुना और उनकी धर्मकाया के दर्शन करता हुआ मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हुआ।

किसा गोतमी

महापुरुष के इन बत्तीस लक्षणों के अतिरिक्त बोधिसत्त्व राजकुमार सिद्धार्थ गौतम का सामान्य शरीर-सौंदर्य इतना चित्ताकर्षक था कि लोगों को चुंबक की तरह अपनी ओर खींच लेता था। शाक्य वनिता किसा गोतमी भी उनके रूप-सौंदर्य को देख कर मुग्ध हो गयी थी।

बोधिसत्त्व राजकुमार ने जिस रात गृह त्याग कर महाभिनिष्क्रमण किया, उसके पूर्व संध्या के समय वे रथ-यात्रा पर निकले थे। अपने मकान के छज्जे पर खड़ी शाक्य वनिता किसा गोतमी [चुटकी भर सरसों वाली नहीं] ने उनका रूप-सौंदर्य देखा तो मोह-मुग्ध हो उठी और बरबस उसके मुँह से ये प्रशंसा-भरे शब्द निकल पड़े -

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी, यस्सायं ईदिसो पतीति॥

(जा० अट्ठ० १, निदानकथा, अविदूरेनिदानकथा)

- उस माता की सारी कामनाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, उस पिता की सारी कामनाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ; उस पत्नी की सारी कामनाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पति मिला।

केवल रूपकाया के सौंदर्य दर्शन से ही संतुष्ट हुई किसा गोतमी बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात उत्पन्न हुई धर्मकाया के दर्शन से वंचित ही रह गयी।

महाराज विंबिसार

ऐसा ही एक और दृश्य हमारे सामने आता है -

गृह त्याग कर सत्य की खोज में निकले हुए राजयोगी बोधिसत्त्व राजगृह के राजमार्ग पर से गुजर रहे हैं। मगधनरेश विंबिसार की नजर उन पर पड़ती है। फटे चीथड़ों से बना चीवर उनके शरीर-सौंदर्य और चाल-ढाल को नहीं छिपा पाता है। विंबिसार देखता है, यह प्रतिभाशाली व्यक्ति **अभिरूपो ब्रहा सुचि** हैं, यानी अत्यंत सुंदर हैं, दीर्घकाय हैं, पवित्र हैं। उनके बारे में कुछ और जानने के लिए वह स्वयं उनसे मिलने के लिए जाता है और मिल कर कहता है -

वण्णारोहेन सम्पन्नो, जातिमा विय खत्तियो। (सु० नि० ४२२, पब्बज्जासुत)

- विपुल सौंदर्य संपन्न हो, मानो क्षत्रिय कुल के हो।

बोधिसत्त्व के रूप-सौंदर्य से आकर्षित हुआ विंबिसार उन्हें अपने राज्य की भोग संपदा का एक भाग देने को तत्पर हो जाता है, ताकि वे भिक्षु जीवन त्याग कर पुनः गृही हो जायँ। लेकिन परमसत्य-गवेषी बोधिसत्त्व इसे अस्वीकार करते हैं। इस पर विंबिसार उनसे प्रार्थना करता है कि बुद्धत्व प्राप्त होने पर धर्मज्ञान देने के लिए वे उसके राज्य में अवश्य आएं।

बोधि-सत्त्व ने इसे स्वीकार किया और कालांतर में अपना वचन निभाया। इस प्रकार महाराज विंबिसार पहले रूपकाया से प्रभावित हुआ और फिर भाग्यशाली होने के कारण धर्मकाया के संपर्क में आकर धर्मलाभी हुआ।

आजीवक उपक

भव्य रूपकाया के दर्शन की हम एक और घटना देखते हैं -

बोधिसत्त्व ने बोधि-वृक्ष तले सम्यक संबोधि प्राप्त कर ली है। वे तदनंतर सात सप्ताह वहीं अथवा उसके इर्द-गिर्द विमुक्तिसुख में बिताते हैं। इसके बाद ऋषिपत्तन मृगदाय में धर्मचक्र प्रवर्तन करने के लिए वाराणसी की ओर चल पड़ते हैं।

मार्ग में आजीवक संप्रदाय का उपक नामक नग्न साधु उन्हें देखता है। उनकी त्वचा का स्वर्ण-वर्ण संबोधि के तेज से और अधिक तप्त हो उठा है। चेहरे पर अपूर्व शांति और कांति विराज रही है। इसे देख कर आजीवक उपक बहुत प्रभावित हो कर कहता है -

विप्पसन्नानि खो ते, आवुसो, इन्द्रियानि, परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो।

(म० नि० १.२८५, पासरासिसुत्त)

- आवुस, तेरी इंद्रियां विमल हैं, प्रसन्न हैं। तेरे चेहरे की कांति परिशुद्ध है, उज्ज्वल है।

इसके उत्तर में भगवान के स्वयंभू जिन होने की बात सुन कर उपक अविश्वास के भाव में कहता है - 'होगा भाई!' और मुँह मोड़ कर, मार्ग छोड़ कुमार्ग की ओर चल देता है। भगवान की रूपकाया से आकर्षित होकर भी वह उस समय उनकी धर्मकाया नहीं देख पाता है, न उससे लाभान्वित हो पाता है।

वह सचमुच कुमार्ग पर ही चला गया। मार्ग छोड़ कर वन-प्रदेश की पगडंडी पर जाते हुए किसी शिकारी की युवा लड़की के संपर्क में आया और गृहत्यागी का जीवन छोड़, गृहस्थ हो कर उसके साथ रहने लगा। उससे एक संतान भी हुई, परंतु वहां से शीघ्र ही उकता कर भाग चला और भटकते-भटकते भगवान की ही शरण पहुँचा। उसी समय भगवान की धर्मकाया से उसका संपर्क हुआ, उसे धर्म प्राप्त हुआ और सुमार्ग पर चल कर वह मुक्ति की ओर बढ़ चला।

राहुल और राहुल-माता

भगवान की सुंदर काया से संबंधित हम एक अन्य प्रसंग देखते हैं -

बुद्धत्व प्राप्ति के उपरांत पिता महाराज शुद्धोदन के प्रबल आग्रह पर बृहद भिक्षुसंघ के साथ भगवान कपिलवस्तु आये हैं। जब राजधानी के राजमार्ग पर भिक्षाटन के लिए निकलते हैं तो माता यशोधरा पुत्र राहुल को उसके अनदेखे पिता का प्रथम दर्शन कराते हुए, उनके रूप-सौंदर्य का बखान करती है और इस प्रकार उनका परिचय देती है -

लक्खणचित्तितपुण्णसरीरो - जिनका सकल शरीर महापुरुष के लक्षणों से परिपूर्ण है,

चक्कवरङ्कितरत्तसुपादो - जिनके रक्त-वर्ण चरण श्रेष्ठ चक्र-चिह्न से भली प्रकार अंकित हैं,

अञ्जनवण्णसुनीलसुकेसो - जिनके (मुंडित सिर पर उगे नन्हें नन्हें) केश सुरमे के समान सुनील वर्ण हैं,

कञ्चनपट्टविसुद्धललाटो - जिनका ललाट विशुद्ध कंचन की भांति दीप्त है, आदि-आदि।

एसहि तुय्ह पिता नरसीहो - ये जो नरों में सिंह जैसे दीखते हैं, यही तुम्हारे पिता हैं।

यों उसके पिता की देहकाया का परिचय देते हुए असीम पुण्यपारमिताओं की स्वामिनी राहुल-माता उनकी धर्मकाया का भी जरा-सा उल्लेख करती है -

सीलसमाधिपतिट्ठितचित्तो - शील और समाधि में इनका चित्त प्रतिष्ठित है। तथा -

लोकहिताय गतो नरवीरो - ये नरवीर लोकहित के लिए गृहत्यागी हुए हैं।

(नरसीहगाथा)

पर नन्हा बालक इसे क्या समझे! वह तो शरीर की पहचान के सहारे ही अपने पिता के समीप जाता है और धर्मकाया के सान्निध्य में आते ही उसके मुँह से बरबस निकल पड़ता है -

सुखा ते, समण, छायाति - श्रमण, तेरी छाया सुखद है।

(महाव० १०५, राहुलवत्थु)

रूपकाया का आकर्षण तो अद्भुत था ही, पर उससे कहीं अधिक अद्भुत आकर्षण था उनकी धर्मकाया का जिसके समीप जाकर एक सप्त-वर्षीय अबोध बालक तक यह कह उठा - श्रमण, तेरी छाया सुखद है।

सचमुच अत्यंत सुखद थी उस महाश्रमण की शीतल छाया!

राहुल-माता खूब जानती है कि गृहत्यागी भगवान बुद्ध के पास अब कोई राजसी विरासत नहीं है। उनके पास तो केवल चार आर्यसत्यों वाली भवमुक्ति की धर्ममयी विरासत ही है। परंतु यह विरासत अनमोल है। राजसी विरासत की इससे कोई तुलना नहीं हो सकती। राहुल-माता अपने पुत्र को यही धर्मविरासत मांगने के लिए भगवान के पास भेजती है।

भगवान की धर्मकाया के संपर्क में आकर राहुल प्रव्रजित होता है। उसे पिता से धर्म का दायाद मिलता है, मुक्ति की विरासत मिलती है और समय पाकर वह अरहंत बनता है तथा भवचक्र से मुक्त हो जाता है।

वत्सगोत्र

अलभ्य, अद्भुत बत्तीस महापुरुष लक्षणों के अतिरिक्त उनके शरीर पर असी अन्य छोटे-मोटे सुंदर चिह्न थे, जिन्हें अनुव्यंजन कहते थे। इनके कारण उनकी शरीर-सुषमा अत्यंत आकर्षक और दर्शनीय थी। देखने वाले अवाक देखते ही रह जाते थे। उन सब में सर्वाधिक आकर्षक उनकी त्वचा थी जिसका रंग और जिसकी कांति **(छविवण्णो)** लोगों को हठात अपनी ओर खींच लेती थी। इसके साथ-साथ उनके चेहरे की शांति, आंख, कान, नाक, मुँह आदि इंद्रियों की पवित्रता, शुचिता, निर्मलता, निर्दोषता अत्यंत हृदयग्राही थी। जैसे चित्त का मैल, वैसे ही चित्त की निर्मलता स्वभावतः

चेहरे पर प्रकट होती है। भगवान की चित्त-निर्मलता के कारण ही उनका मुखमंडल सतत स्वच्छ, ओजपूर्ण और तेजस्वी बना रहता था। त्वचा और चेहरे की यह आभा देख कर आगंतुक सहज ही श्रद्धा से झुक जाता था।

एक प्रसंग है वेनागपुर का। भगवान चारिका करते हुए वहां पहुँचे हैं। अनेक गृहस्थ ब्राह्मण और वैश्य उनसे मिलने आये हैं। उनमें से एक है ब्राह्मण वत्सगोत्र। वह भगवान की दर्शनीय रूपकाया को देख कर, प्रसन्नता-विभोर होकर कह उठता है -

अच्छरियं, भो गोतम, अब्भुतं, भो गोतम, यावञ्चिदं भोतो गोतमस्स विप्पसन्नानि इन्द्रियानि, परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो।

- हे गौतम, आश्चर्य है, हे गौतम, अद्भुत है। आप गौतम की इंद्रियां कितनी निर्मल हैं, प्रसन्न हैं। आपकी त्वचा कितनी परिशुद्ध, स्वच्छ, और कांतिपूर्ण है।

... सेय्यथापि, भो गोतम, नेक्खं जम्बोनदं दक्खकम्मारपुत्तसुपरिकम्मकतं उक्कामुखे सुकुसलसम्पहट्ठं पण्डुकम्बले निक्खित्तं भासते च तपते च विरोचति च। एवमेवं भोतो गोतमस्स विप्पसन्नानि इन्द्रियानि, परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो।

(अ० नि० १.३.६४, वेनागपुरसुत्त)

- ... जैसे कि हे गौतम, किसी दक्ष स्वर्णकार ने जांबोनद स्वर्ण को परिश्रमपूर्वक काट-छांट कर, ठोक-पीट कर, आग में तपा कर, विशुद्ध करके पांडुवर्णी मखमली कंबल पर रखा हो। जिस प्रकार वह स्वर्ण चमकता है, विरोचित होता है, आभास्वर होता है, उसी प्रकार आपकी छवि और इंद्रियां दीप्त हैं।

अधिकांश सहृदय लोग उनसे सर्वथा अपरिचित होते हुए भी उनकी रूपकाया के प्रथम दर्शन से ही अभिभूत हो जाते थे। उनके विशुद्ध धर्माचरण के साथ-साथ उनकी इस मनोहारिणी रूप-छवि की चर्चा भी दूर-दूर तक फैल चुकी थी। उन्हें बिना देखे ही लोग इसकी चर्चा करते थे। ऐसे अनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण है कोशल के ओपसाठ निगम के स्वामी ब्राह्मण चंकी का।

महाशाल ब्राह्मण चंकी

ब्राह्मण चंकी महाशाल यानी महा धनाढ्य था। कोशलराज से दान में प्राप्त हुए समस्त ओपसाठ निगम का स्वामी था। एक बार भगवान चारिका करते हुए वहां पहुँचे। बहुत लोगों की भीड़ उनके दर्शनार्थ जाने लगी, तो ब्राह्मण चंकी का भी मन हुआ कि वह भगवान से मिले। उसने उनकी बहुत ख्याति एवं प्रसिद्धि सुन रखी थी। परंतु उसके कुछ हितैषी साथियों ने उसे रोका। उन्होंने कहा, यह उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होगा कि उस जैसा प्रमुख ब्राह्मण एक श्रमण के दर्शन के लिए जाए। लेकिन चंकी जाने के लिए दृढ़-निश्चय था। उसने भगवान के बारे में जो अच्छी बातें सुनी थीं, उनमें एक उनके काय-सौंदर्य से संबंधित थी। उसी ओर संकेत करते हुए चंकी ने कहा –

समणो खलु, भो, गोतमो अभिरूपो दस्सनीयो पासादिको परमाय वण्णपोक्खरताय समन्नागतो ब्रह्मवण्णी ब्रह्मवच्छसी अखुद्दावकासो दस्सनाय।

(म० नि० २.४२५, चङ्कीसुत्त)

– श्रमण गौतम अभिरूप है; अत्यंत रूपवान है; दर्शनीय है; प्रसादनीय है; प्रिय लगने वाला है। उसके वर्ण का निखार अत्यंत श्रेष्ठ है। **महाब्रह्मा का सा शरीर और वर्ण** है उसका। उसके दर्शनीय होने में कोई कमी नहीं है।

उन दिनों के ब्राह्मण अक्सर गोरे होते थे। इस कारण कुछ एक वर्णवादी ब्राह्मण श्रमणों को हेय दृष्टि से देखते थे। उन्हें **इब्भा कण्हा** (नीच काले) कह कर दुत्कारते थे। परंतु बुद्ध एक ऐसे श्रमण थे जो काले-कलूटे न होकर **ब्रह्मवर्णी ब्रह्मवच्छसी** थे और बत्तीस महापुरुष लक्षणों के साथ-साथ उनका ऐसा सुंदर रंग-रूप उन्हें **अखुद्दावकासो दस्सनाय** बनाता था।

इसी कारण साथियों के हजार रोकने पर भी ब्राह्मण चंकी उनके दर्शन के लिए गया। उनकी रूपकाया से प्रभावित हुआ। परंतु पुण्यशाली होने के कारण उनकी धर्मकाया से भी लाभान्वित हुआ।

सोण

भगवान की धर्मकाया के साथ-साथ उनकी रूपकाया की प्रशस्ति केवल वर्णवादी ब्राह्मणों तक ही नहीं बल्कि सर्वत्र इतनी लोक-प्रसिद्ध हो गयी थी कि अनेक अपरिचित लोगों के लिए यही उनकी प्रथम पहचान थी। उदाहरणार्थ, उन दिनों अवंति के राजपुरोहित के पुत्र विद्वान ब्राह्मण कात्यायन भगवान से प्रव्रज्या लेकर स्वदेश लौटे, तो वहां कुररघर नामक पर्वत पर विहार करने लगे।

उनका एक प्रिय शिष्य था – सोण कोटिकर्ण। उसके मन में यह आया कि –

न खो मे सो भगवा सम्मुखा दिट्ठो, अपि च सुतोयेव मे सो भगवा – 'ईदिसो च ईदिसो चा'ति।

(उदा० ४६, सोणसुत्त)

– मैंने भगवान का साक्षात दर्शन नहीं किया है। केवल सुना ही है कि 'वे ऐसे हैं, ऐसे हैं'।

भगवान की ख्याति सुन-सुन कर सामान्य लोगों के मन में भी यही भाव उठता था –

साधु खो पन तथारूपानं अरहतं दस्सनं होति।

(दी० नि० १.३०१, सोणदण्डसुत्त)

– ऐसे अरहंतों का दर्शन अच्छा होता है।

सोण तो अपने आचार्य कात्यायन के द्वारा भगवान की शिक्षा में दीक्षित भी हो चुका था। अतः उसके मन में ऐसा भाव जागना स्वाभाविक था। उसने आचार्य कात्यायन से भगवान का दर्शन करने की अपनी यह इच्छा प्रकट की। कात्यायन ने प्रसन्न चित्त से जाने की आज्ञा देते हुए उसे कहा –

साधु साधु, सोण, गच्छ त्वं, सोण, तं भगवन्तं दस्सनाय अरहन्तं सम्मासम्बुद्धं।

– बहुत अच्छा, सोण, बहुत अच्छा। तुम उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध के दर्शनार्थ जाओ।

भगवान को पहचानने के लिए उसने सोण से कहा –

दक्खिस्ससि त्वं, सोण, तं भगवन्तं पासादिकं पसादनीयं सन्तिन्द्रियं सन्तमानसं उत्तमदमथसमथमनुप्पत्तं दन्तं गुत्तं यतिन्द्रियं नागं।

(उदा० ४६, सोणसुत्त)

– सोण, तुम उन भगवान के दर्शन करोगे, जो प्रसन्नमुख हैं, सुंदर हैं; प्रसन्नता जगाने वाले हैं, दर्शनीय हैं, शांत-इंद्रिय हैं; शांत-चित्त हैं; संयमशील हैं; यतिंद्रिय हैं और मनुष्यों में **नाग** सदृश हैं। निष्पाप हैं।

भगवान के बारे में जिन अनेक प्रशंसात्मक विशेषताओं की चर्चा लोगों में फैली थी, उनमें से एक थी उनकी अकुटिल भ्रकुटि। भगवान ने जीवन भर कभी क्रोध नहीं किया। अतः किसी ने कभी उनकी भ्रकुटि चढ़ी हुई नहीं देखी। वे सारी चिंताओं से सर्वथा विमुक्त हो चुके थे। इस कारण भी कभी उनकी भ्रकुटि में बल नहीं पड़ा। अकुटिल भ्रकुटि रहना उनका सहज स्वभाव बन गया था। इससे मुख-मंडल सहज प्रसन्नता से भरा रहता था, जिसे देख कर दर्शक भी सहज ही प्रसन्नता से भर उठता था। इसीलिए उनकी रूपकाया को **पासादिकं, पसादनीयं** कहा जाता था।

श्रद्धालु सोण ने इसी बहुचर्चित रूपकाया के दर्शन किये और फिर धर्म से भरी हुई धर्मकाया के दर्शन करके निहाल हो गया। वस्तुतः कल्याण तो धर्मकाया से ही होता है।

वाहिय दारुचीरिय

लोग भगवान की इस अद्वितीय **पासादिकं, पसादनीयं** रूपकाया से उन्हें पहचान अवश्य लेते थे, परंतु वास्तविक लाभ तो उनकी धर्मकाया के दर्शन से ही होता था।

एक उदाहरण हमारे सामने है –

उन दिनों के सुप्पारकपत्तन यानी सुप्पारक बंदरगाह (आज की बंबई महानगरी के समीप नल्ला सुप्पारक गाँव) में एक वयोवृद्ध संन्यासी रहता था। वह वल्कल अर्थात पेड़ की छाल का वस्त्र पहनता था, अतः उसका नाम दारुचीरिय पड़ गया। उसने सुना कि लोक में अरहंत सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं। वे श्रावस्ती में विहार कर रहे हैं। वे अरहंत मार्ग का उपदेश भी देते हैं। यह सुन कर उसके मन में अपूर्व धर्मसंवेग जागा। वह भगवान के दर्शन के लिए आतुर हो उठा और तत्काल श्रावस्ती के लिए चल पड़ा। शीघ्र पहुँचने की आतुरता में वह रास्ते में बहुत कम विश्राम कर पाया। जब श्रावस्ती के जेतवन विहार में पहुँचा तो पता चला कि भगवान भिक्षाटन के लिए नगर की ओर गये हैं। वह तुरंत नगर की ओर चल दिया। वहां नगरवीथि में उसने भगवान को भिक्षाचारिका करते देखा। किसी ने उसको भगवान का परिचय नहीं कराया था। पर उनके जनविश्रुत गुणों के कारण उसने उन्हें पहचान लिया। यही तो उनका परिचय था –

पासादिकं पसादनीयं सन्तिन्द्रियं सन्तमानसं उत्तमदमथसमथमनुप्पत्तं दन्तं गुत्तं यतिन्द्रियं नागं।

(उदा० ४६, सोणसुत्त)

यह ऐसा परिचय था जिससे उन्हें कोई भी पहचान सकता था। **पासादिकं** और **पसादनीयं** रूपकाया के दर्शन कर, भगवान के चरणों में सिर टेक दारुचीरिय ने धर्म की याचना की। स्पष्ट है कि उसने रूपकाया में धर्मकाया के दर्शन किये। उसे धर्म मिला, मुक्ति की विधा मिली जिससे उसका परम कल्याण हुआ।

अनुपादाय आसवेहि चित्तं विमुच्चि। (उदा० १०, वाहियसुत्त)

– उपादानरहित हो, आस्रवों से चित्त विमुक्त हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस **पासादिकं** और **पसादनीयं** रूपकाया से आकर्षित होकर कितने ही लोग भगवान के संपर्क में आये और उनकी धर्मकाया से धर्म प्राप्त कर कल्याणलाभी हुए।

मागंधीय

सर्वांग-सौंदर्य से परिपूर्ण भगवान की रूपकाया का हम एक और दृश्य देखते हैं। ब्राह्मण मागंधीय की अनिंद्य-सुंदरी, सुवर्ण-वर्णा कन्या विवाह-योग्य हो गयी है। ब्राह्मण उसका विवाह उसी के अनुरूप सर्वांग-सुंदर, सुवर्ण-वर्ण पुरुष से करना चाहता है। परंतु ऐसा रूपवान व्यक्ति उसे न ब्राह्मण समाज में मिला और न राजन्य समाज में। अकस्मात वह भगवान को देखता है और उनकी रूपकाया में उसे अपनी पुत्री के लिए मनचाहा वर दिखायी देता है। अपनी पुत्री का हाथ भगवान को सौंपने के लिए वह अधीर हो उठता है।

हो सकता है कि वह इस तथ्य को बिलकुल न जानता हो कि यह श्रमण, ब्राह्मणों की जन्मजात वर्ण-व्यवस्था का, किसी नदी में नहाने से दुष्कर्मों के मैल धुल जाने की मिथ्या मान्यता का और पशु-बलि वाले यज्ञों के कर्म-कांडों का कट्टर विरोधी है। पर इतना तो स्पष्ट देख ही रहा था कि यह व्यक्ति प्रव्रजित है, गृहस्थ नहीं है, और श्रमण है। जात्यभिमान में डूबे हुए उन दिनों के कुछ ब्राह्मण ऐसों के प्रति तीव्र अनादर भाव प्रकट कर कहा करते थे –

मुण्डका, समणका, इब्भा, कण्हा, बन्धुपादापच्चा।

(दी० नि० १.२६३, अम्बट्ठसुत्त)

– ये मथमुंडे, श्रमण, इभ्य (नीच), काले-कलूटे, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न हैं।

ऐसे मथमुंडे श्रमण को वह अपनी अनिंद्य सुंदरी कन्या देना चाहता है। स्पष्ट ही इसका एकमात्र कारण यही है कि भगवान जैसा सुंदर पुरुष उसे कहीं ढूंढे नहीं मिला। ऐसी थी भगवान की मनोहारिणी अनुपम रूप-काय-सुषमा।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि शरीर-लक्षण शास्त्र के प्राचीन वैदिक ग्रंथ में केवल महापुरुषों के बत्तीस शारीरिक लक्षण ही नहीं

गिनाये गये थे; वरन उसमें और भी अन्य अनेक विवरण थे। यह भी स्पष्ट है कि उन दिनों नारी-शिक्षा पर कोई प्रतिबंध नहीं रहा होगा। इसी कारण हम देखते हैं कि ब्राह्मण मागंधीय की भार्या शरीर-लक्षण विद्या में इतनी निष्णात थी कि जिस आसन पर भगवान बैठे थे, उसके दबाव-उठाव को देख कर तथा जिस भूमि पर चले थे, वहां पड़े पद-चिह्नों के दबाव-उठाव को देख कर उसने यह निर्णय किया कि इस आसन पर बैठने वाला और ऐसे पद-चिह्नों वाला व्यक्ति कदापि कामभोगी नहीं हो सकता, कामलोलुप नहीं हो सकता। अवश्य ही यह नितांत वीतकाम है, भवमुक्त है। हमारी कन्या का पाणिग्रहण करने वाला नहीं है। और यही हुआ। देश के धनी-मानी, ऐश्वर्यशाली क्षत्रिय और ब्राह्मण जिसे प्राप्त करने में अपना सौभाग्य मानते थे, उस कन्यारत्न को किसी के द्वारा अस्वीकृत किया जाना ब्राह्मण मागंधीय के लिये आश्चर्यजनक घटना थी। इसी कारण भगवान की देहकाया का आकर्षण भुला कर वह उनकी धर्मकाया की ओर आकृष्ट हुआ। पुत्री को अपने अनुज के हवाले करके, दोनों पति-पत्नी प्रव्रजित हुए और भगवान से विपश्यना साधना सीख कर, उसका समुचित अभ्यास करते हुए भव-बंधनों से मुक्त होकर कृत-कृत्य हुए।

वक्कलि

ऐसा ही एक और विशिष्ट उदाहरण हमारे सामने आता है वक्कलि का। श्रावस्ती का यह वेदज्ञ ब्राह्मण भगवान की रूप-संपदा से इतना प्रभावित होता है कि गृह त्याग कर प्रव्रजित हो जाता है। केवल इस उद्देश्य से कि अधिक समय भगवान के समीप रह कर उनके शरीर-सौंदर्य का दर्शन करता रहे। परवर्ती भक्ति-युग में इष्टदेव के रूप-सौंदर्य का वर्णन तथागत के रूप-सौंदर्य से प्रभावित हुआ लगता है। इसी प्रकार लगता है कि यह वक्कलि परवर्ती भक्ति-युग में इष्टदेव के रूप-दर्शन के लिए विकल रहने वाले भक्तों का मानो पूर्ववर्ती संस्करण है। जब देखो तब भगवान के शरीर पर दृष्टि गड़ाए रखे; धर्मधारण का कतई अभ्यास न करे। जब भगवान उसकी यह मूढ़ अवस्था देखते हैं, तो उसे फटकारते हुए कहते हैं –

किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन?

– इस गंदे शरीर को देखकर तुझे क्या मिलेगा?

इस रूपकाया की ओर से उसका ध्यान हटा कर धर्मकाया की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करते हुए भगवान कहते हैं –

यो खो, वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति; यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। (सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है; जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।

भिक्षु वक्कलि जैसा कोई अंध-भक्त भले भगवान की रूपकाया पर इस प्रकार आकर्षित और मुग्ध हो गया हो, पर भगवान ने तो बार बार धर्मकाया को ही महत्त्व दिया। इस विषय में उनकी वाणी कितनी स्पष्ट है –

सङ्घाटिकण्णे चेपि, भिक्खवे, भिक्खु गहेत्वा पिट्ठितो पिट्ठितो अनुवन्धो अस्स पादे पादं निक्खिपन्तो, सो च होति अभिज्झालु कामेसु तिब्बसारोगा ब्यापन्नचित्तो पदुट्ठमनसङ्कप्पो मुट्ठस्सति असम्पजानो असमाहितो विब्भन्तचित्तो पाकतिन्द्रियो; अथ खो सो आरकाव मय्हं, अहञ्च तस्स। तं किस्स हेतु? धम्मं हि सो, भिक्खवे, भिक्खु न पस्सति। धम्मं अपस्सन्तो न मं पस्सति।

(इतिवु० ९२, सङ्घाटिकण्णसुत्त)

– भिक्षुओ, यदि कोई भिक्षु मेरी संघाटी के कोने को पकड़े, मेरे चरण-चिह्नों पर अपने चरण रखते हुए मेरे पीछे-पीछे लगा हो, परंतु हो वह लोभी, कामभोग में तीव्र रागचित्तयुक्त, द्रोहचित्तयुक्त व प्रदुष्ट संकल्पयुक्त, स्मृति और संप्रज्ञानरहित, समाधिरहित, विभ्रांतचित्त, असंयमित इंद्रियों वाला; तो वह मुझसे दूर ही है और मैं उससे। सो किस कारण? क्योंकि वह धर्म को नहीं देखता है। जो धर्म को नहीं देखता है, वह मुझे नहीं देखता है।

दूसरी ओर –

योजनसते चेपि सो, भिक्खवे, भिक्खु विहरेय्य, सो च होति अनभिज्झालु, कामेसु न तिब्बसारोगा, अब्यापन्नचित्तो, अपदुट्ठमनसङ्कप्पो, उपट्ठितस्सति, सम्पजानो समाहितो एकग्गचित्तो, संवुतिन्द्रियो; अथ खो सो सन्तिकेव मय्हं, अहञ्च तस्स। तं किस्स हेतु? धम्मं हि सो, भिक्खवे, भिक्खु पस्सति; धम्मं पस्सन्तो मं पस्सति। (इतिवु० ९२, सङ्घाटिकण्णसुत्त)

– कोई भिक्षु सौ योजन की दूरी पर विहार करता हो, परंतु न वह लोभी हो, न कामभोग में तीव्र रागचित्तयुक्त हो, न द्रोहचित्तयुक्त हो, न प्रदुष्ट संकल्पयुक्त हो, वह सतत स्मृति और संप्रज्ञानयुक्त, समाहित, **एकाग्रचित्त**, इंद्रियसंयमी हो; तो वह मेरे समीप ही है और मैं उसके। सो किस कारण? भिक्षुओ, वह भिक्षु धर्म को देखता है। जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है।

भगवान के देह-दर्शन की तीव्र आसक्ति लिए अंधभक्ति में डूबा वक्कलि भगवान की फटकार से सुधरता है। साधना के उतार-चढ़ावों में से गुजरता हुआ वह अंततः भवमुक्त हो जाता है।

वैशाली का उग्र गृहपति

भगवान की रूपकाया इतनी सुदर्शनीय थी कि उसे देख कर सब का मन खिल उठता था।

को दिस्वा न पसीदति – उसे देख कर कौन प्रसन्न नहीं हो उठता!

(अप० थेर २.४७.४५-५४, सयंपटिभानियत्थेरअपदान)

पहले ही दर्शन में भगवान के अनन्य भक्त बन जाने के और भी उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। वैशाली का श्रेष्ठि उग्र भगवान के प्रति बहुत श्रद्धालु था। भगवान भी उसके बहुत बड़े प्रशंसक थे। किसी एक प्रसंग में उसने अपने जीवन की यह सच्चाई प्रकट की।

यदाहं, भन्ते, भगवन्तं पठमं दूरतोव अद्दसं; सह दस्सनेनेव मे, भन्ते, भगवतो चित्तं पसीदि। (अ० नि० ३.८.२१, पठमउग्गसुत्त)

– भंते, जब पहली बार भगवान को मैंने दूर से देखा तो भंते, देखते ही भगवान के प्रति मेरे मन में श्रद्धा जाग गयी।

यह भगवान की सुंदर रूपकाया का ही आकर्षण था जिसके कारण दर्शक पहले दर्शन में ही प्रभावित हो जाते थे।

ठीक इसी से मिलती-जुलती हम एक अन्य घटना देखते हैं–

हस्तिग्राम का उग्र गृहपति

हस्तिग्राम में भी उग्र नाम का एक धनी गृहस्थ था। वह भी भगवान के प्रथम दर्शन से ही उनका श्रद्धालु उपासक बन गया। लगता है वह व्यक्ति शराबी भी था। उसने अपना अनुभव इन शब्दों में व्यक्त किया है–

यदाहं, भन्ते, नागवने परिचरन्तो भगवन्तं पठमं दूरतोव अद्दसं,

– भंते, नागवन में विचरण करते हुए जब मैंने पहली बार भगवान को दूर से देखा–

सह दस्सनेनेव मे, भन्ते, भगवतो चित्तं पसीदि,

– तो भंते, देखते ही भगवान के प्रति मेरे मन में श्रद्धा जाग गयी,

सुरामदो च पहीयि – मदिरा का नशा उतर गया।

(अ० नि० ३.८.२२, दुतियउग्गसुत्त)

पहले उग्र श्रेष्ठि की भांति दूसरा उग्र गृहपति भी भगवान की रूपकाया से प्रभावित हो श्रद्धालु बन गया। परंतु इसे भगवान की पावन धर्मकायिक तरंगों ने भी तत्काल प्रभावित किया और उसका मदिरा का सारा नशा उतर गया। और यह नशा सदा के लिए उतर गया, क्योंकि वह भगवान की धर्मकाया के संपर्क में आकर अनागामी अवस्था तक पहुँच गया।

अतृप्त हत्थक आलवक

भगवान की रूपकाया के अद्भुत आकर्षण का एक और उदाहरण हम हत्थक आलवक के वक्तव्य में देखते हैं। हत्थक भगवान के अग्रगण्य गृही

उपासकों में से एक था। मृत्यु के पश्चात उसका जन्म देवलोक में हुआ। वहां से अपने दिव्य रूप में भगवान के सामने प्रकट हुआ और बोला–

भगवतो अहं, भन्ते, दस्सनस्स अतित्तो अप्पटिवानो कालङ्कतो।

– भंते, मैं भगवान के दर्शनों से अतृप्त रह कर, दर्शनों के लिए पीछे न हटने वाला होते हुए मृत्यु को प्राप्त हो गया।

भगवान की रूपकाया के सदृश उनकी धर्मकाया की धर्मवाणी भी उतनी ही आकर्षक थी। लोग रूप देखते तो देखते ही रह जाते, तृप्त नहीं होते; मुड़ने को जी नहीं चाहता। धर्मवाणी सुनते, तो सुनते ही रह जाते, तृप्त नहीं होते; मुड़ने को जी नहीं चाहता। यही दशा हत्थक की हुई।

सद्धम्मसवनस्साहं, भन्ते, अतित्तो अप्पटिवानो कालङ्कतो।

(अ० नि० १.३.१२८, हत्थकसुत्त)

– सद्धर्म श्रवण से भी अतृप्त रह कर, सुनने में पीछे न हटने वाला होते हुए मृत्यु को प्राप्त हो गया।

यदि भगवान के श्रद्धालु भक्त ही उनकी रूपकाया की प्रशंसा करते, तो यह परवर्ती भक्ति-युग की सी अतिरंजना भरी अभिव्यंजना होती परंतु भगवान के सुंदर रूप को ऐसे लोगों ने भी स्वीकारा, जो भगवान के प्रति रंचमात्र भी श्रद्धालु नहीं थे।

उरुवेल काश्यप

उरुवेल की एक सूनी कुटिया में भगवान रात भर के लिए ठहरे थे। वहां उनका सामना एक क्रुद्ध नाग से हुआ। इसे देख कर उरुवेल काश्यप के मुँह से यही निकला–

अभिरूपो वत भो महासमणो, नागेन विहेठियति।

(महाव० ३९, उरुवेलपाटिहारियकथा)

– अरे, सचमुच यह 'महाश्रमण' अभिरूप यानी अत्यंत सुंदर है! (परंतु) यह नाग द्वारा सताया जा रहा है।

ध्यान देने की बात यह है कि भगवान की काया के सौंदर्य का यह बखान उरुवेल काश्यप ने तब किया जब वह उनसे पहली बार मिला था। भगवान का अनुयायी, भक्त होना तो बहुत दूर की बात थी, तब तक तो उसने भगवान का वह ऋद्धिबल भी नहीं देखा था, जो कि आश्चर्यजनक होने पर भी उसे प्रभावित नहीं कर सका था। वह मगध देश का प्रसिद्ध धर्माचार्य था और अपने आपको अरहंत मानता था। उसे अपने कर्मकांडों का बड़ा अभिमान था। उसने भगवान बुद्ध के लिए केवल महाश्रमण शब्द का प्रयोग किया। 'श्रमण' तो उनकी वेश-भूषा के कारण और 'महा' उनके बड़े डीलडौल के कारण।

राजगृह के अश्रद्धालु नागरिक

जब प्रमत्त नालागिरि हाथी सूंड़ उठा कर, चिंघाड़ता हुआ और कान फड़फड़ाता हुआ भगवान पर हमला करने के लिए उनकी ओर दौड़ा आ रहा था, तब आसपास के कुछ ऐसे नगरनिवासी -

तत्थ ये ते मनुस्सा अस्सद्धा अप्पसन्ना दुब्बुद्धिनो, ते एवमाहंसु,

- जो अज्ञानी थे और भगवान के प्रति अश्रद्धालु थे, अप्रसन्न थे, उन्होंने कहा -

अभिरूपो वत भो महासमणो, नागेन विहेठीयिस्सति।

(चूळव० ३४२, नाळागिरिपेसन)

- अरे, इस अत्यंत सुंदर महाश्रमण को हाथी मार डालेगा।

इनमें श्रद्धा नहीं थी, पर सुंदरता का बखान तो इन्होंने भी किया ही। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान की रूपकाया निश्चित रूप से अत्यंत सुंदर थी।

पुक्कुसाति

भगवान के बारे में जो अनेक बातें लोक-प्रसिद्ध थीं उनमें से एक यह भी थी -

समणं खलु, भो, गोतमं तिरोरट्ठा तिरोजनपदा पञ्हं पुच्छितुं आगच्छन्ति।

(दी० नि० १.३०४, सोणदण्डसुत्त)

- राष्ट्र और जनपद के बाहर से भी लोग श्रमण गौतम से धर्मसंबंधी प्रश्न पूछने आते हैं।

भगवद्-वाणी में हम देखते हैं कि ऐसे अनेक लोग दूर-दूर से चल कर आये। दक्षिण में गोदावरी के तट से बावरी के भेजे हुए सोलह ब्राह्मण आचार्य आये - यह हमने देखा ही है। इसी प्रकार गंधार देश की राजधानी तक्षशिला से गंधार-नरेश पुक्कुसाति भगवान से मिलने चला आया। यह द्रष्टव्य है कि भगवान की रूपकाया के बत्तीस महापुरुष लक्षणों की चर्चा सुन कर जो लोग आये, वे सभी शास्त्रज्ञ ब्राह्मण थे, क्योंकि ब्राह्मणों के सर्वमान्य ग्रंथ में इसका विवरण था। पर अन्य अनेक लोग भगवान की धर्मकाया अर्थात उनके धर्मोपदेशों के बारे में ही सुन कर आये। उनमें से एक यह था - महाराज पुक्कुसाति।

तक्षशिलाधीश पुक्कुसाति मगध-नरेश बिंबिसार का अनदेखा पत्र-मित्र था। व्यापारियों के माध्यम से दोनों ने परस्पर स्नेह-संदेशों और उपहारों का आदान-प्रदान किया था। एक बार पुक्कुसाति द्वारा भेजे गये मुक्ता-मणियों के उपहार के बदले बिंबिसार ने स्वर्ण-पत्र पर भगवान बुद्ध और उनके उपदेशों के बारे में लिख भेजा। पुक्कुसाति पूर्वपुण्यपारमिताओं से संपन्न था। अतः यह धर्मसंदेश पढ़ते ही उसके मन में गहरा धर्मसंवेग जागा और वह राजपाट त्याग कर संन्यासी के वेष में भगवान के दर्शनार्थ निकल पड़ा। तक्षशिला से राजगृह तक की लंबी यात्रा पूरी करते हुए वह श्रावस्ती के जेतवन विहार के सामने से गुजरा, जहां उस समय भगवान विहार कर रहे थे। परंतु वह तो यही समझे बैठा था कि भगवान राजगृह में मिलेंगे। अतः आगे बढ़ता गया। भगवान ने जब यह जाना, तो वे उसके पीछे-पीछे तेज गति से पैदल ही चल पड़े। राजगृह के बाहर एक कुम्हार की धर्मशाला में एक ही कक्ष में दोनों ने रात बितायी, क्योंकि देर हो जाने के कारण नगर के दरवाजे बंद हो चुके थे। पुक्कुसाति ने भगवान को देखा तो यही समझा कि यह कोई सामान्य श्रमण है। भगवान की सुंदर रूपकाया और बत्तीस

महापुरुष लक्षण उसके सामने थे, पर उसके लिए वे महत्त्वपूर्ण नहीं थे। अतः उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। रात देर तक साथ ध्यान करने के बाद भगवान ने उसे धर्मदेशना दी। धातु-विभंग जैसा साधना संबंधी गंभीर उपदेश दिया। भगवान ने थोथी मान्यताओं और उनके प्रति जागी आसक्तियों से विमुक्त होने के लिए धर्म का यह प्रयोगात्मक पक्ष प्रस्तुत किया और कहा -

इमं खो मे त्वं, भिक्खु, सङ्खित्तेन छधातुविभङ्गं धारेहि।

(म० नि० ३.३६९, धातुविभङ्गसुत्त)

- भिक्षु, मेरे द्वारा तुम्हें संक्षेप में समझाये गये छः धातु विभंगों को धारण कर।

'धारेहि' यह शब्द सुनते ही पुक्कुसाति के भीतर मानो बिजली का-सा प्रवाह दौड़ा। अन्य धर्माचार्य केवल बौद्धिक उपदेश देते हैं। किसी न किसी दार्शनिक मान्यता के प्रति अभिनिवेश जगाते हैं। परंतु इसने तो सभी दार्शनिक मान्यताओं को ठुकरा कर पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश और विज्ञान इन छहों धातुओं के टुकड़े-टुकड़े कर परम सत्य को धारण करने पर जोर दिया, यानी उसे स्वानुभूति का आधार बनाने को, प्रत्यक्षानुभूति के स्तर पर जानने और ग्रहण करने को महत्त्व दिया है। यही तो विपश्यना है। अवश्य ही यह महाश्रमण सम्यक संबुद्ध है। यों रूपकाया नहीं बल्कि धर्मकाया के संपर्क में आकर उसने भगवान को पहचाना और उल्लास-भरे शब्दों में बोल उठा -

सत्था किर मे अनुप्पत्तो, सुगतो किर मे अनुप्पत्तो, सम्मासम्बुद्धो किर मे अनुप्पत्तो!

(म० नि० ३.३७०, धातुविभङ्गसुत्त)

- अहो, सचमुच मुझे शास्ता मिल गये! सचमुच, मुझे सुगत मिल गये! सचमुच, मुझे सम्यक संबुद्ध मिल गये!

इस प्रकार न जाने कितने लोग भगवान की धर्मकाया के संपर्क में आकर धन्य हुए, कृत-कृत्य हुए।

रूपकाया की भंगुरता

रूपकाया की भंगुरता

जराधम्मो योब्बञ्ञे, ब्याधिधम्मो आरोग्ये, मरणधम्मो जीविते।

(सं० नि० ३.५.५११, जराधम्मसुत्त)

– यौवन में बुढ़ापे का, आरोग्य में व्याधि का और जीवित रहने में मृत्यु का स्वभाव समाया हुआ है।

सब्बं, भिक्खवे, जराधम्मं... ब्याधिधम्मं... मरणधम्मं...।

(सं० नि० २.४.३४-३६, जातिधम्मादिसुत्त)

– भिक्षुओ, सब जराधर्मा है..., व्याधिधर्मा है..., मरणधर्मा है...।

यह प्रकृति का अटूट नियम सभी प्राणियों पर लागू होता है। जरा, व्याधि और मृत्यु से किसी की भी काया नहीं बच पाती। चाहे किसी सम्यक संबुद्ध की बत्तीस महापुरुष लक्षणों और अस्सी अनुव्यंजनों वाली, कंचन-वर्णी, परम सौंदर्यमयी काया ही क्यों न हो, समय पाकर वह भी जर्जरित होती ही है, व्याधिग्रस्त होती ही है, मृत्यु को प्राप्त होती ही है। और यही हुआ।

जो बाल-बुद्धि वाले लोग केवल भगवान की काया का सौंदर्य ही देखते रह गये, वे कोरे रह गये। जो इस भव्य और दिव्य सौंदर्य से आकर्षित हो, उनकी धर्मकाया के संपर्क में आये अथवा जो गंधार-नरेश पुक्कुसाति की भांति उस रूपकाया को जरा भी महत्त्व न देकर सीधे उनकी धर्मकाया के संपर्क में आये; वे धर्म से लाभान्वित हो निहाल हो गये।

भगवान के रूप-दर्शन मात्र से भला क्या मिलता? रूप-दर्शन के भूखे अंध-भक्त वक्कलि को फटकारते हुए भगवान ने ठीक ही कहा –

किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन? (सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– इस गंदे शरीर को देख कर तुझे क्या मिलेगा?

हर मानवी काया पूतिकाया ही है। हाड़, मांस, लहू, पीप, मल, मूत्र आदि-आदि का समुच्चय। चाहे वह सम्यक संबुद्ध की काया हो अथवा अन्य किसी की।

सभी रूपकाया जरा-मरण-धर्मा है।

किसी एक प्रसंग पर भगवान ने कोशल-नरेश प्रसेनजित को समझाया –

नत्थि खो, महाराज, जातस्स अञ्ञत्र जरामरणा।

– महाराज! जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी जरा-मरण से नहीं बच पाता।

चाहे वह महाधनाढ्य क्षत्रिय हो, महाधनाढ्य ब्राह्मण हो या महाधनाढ्य वैश्य। उसका विपुल धन-वैभव, उसकी संपूर्ण शक्ति-सत्ता उसे जरा-मृत्यु से नहीं बचा पाती।

येपि ते, महाराज, भिक्खू अरहन्तो खीणासवा वुसितवन्तो कतकरणीया ओहितभारा अनुप्पत्तसदत्था परिक्खीणभवसंयोजना सम्मदञ्ञाविमुत्ता, तेसंपायं कायो भेदनधम्मो निक्खेपनधम्मो।

– इसी प्रकार महाराज, जो भिक्षु अरहंत हैं, क्षीणास्रव हैं, जिन्होंने धर्माभ्यास पूरा कर लिया है, जो कृत-कृत्य हैं, भार-मुक्त हैं, परमार्थ-प्राप्त हैं, भववंधन-परिक्षीण हैं, परमज्ञान-प्राप्त हैं, विमुक्त हैं, उनका शरीर भी भेदन-निक्षेपन-धर्मा है अर्थात मरण-धर्मा है।

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरम्पि जरं उपेति।

(सं० नि० १.१.११४, जरामरणसुत्त)

– जैसे अत्यंत सजे-धजे सुचित्रित राजरथ भी समय पाकर जर्जरित हो जाते हैं, वैसे ही शरीर भी जीर्णता को प्राप्त हो जाता है।

समय पाकर भगवान का स्वर्ण-वर्ण, कांतिमय सुंदर शरीर भी जीर्णता को प्राप्त हुआ। इससे संबंधित एक दृश्य –

झुर्रियां पड़ गयीं

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के मृगारमाता विशाखा के पूर्वाराम में विहार कर रहे थे। सर्दी के दिन थे। सूरज ढल रहा था। भगवान ध्यान से उठ कर पश्चिम की ओर पीठ किये धूप ले रहे थे। इतने में आनंद आये। वे प्रणाम कर भगवान का शरीर दबाने लगे। उनके शरीर की जरा-जीर्ण अवस्था देख कर और उनकी पूर्व अवस्था के शरीर को याद कर वे आश्चर्यचकित होकर बोले – भगवान, अब आपका शरीर पहले जैसा **परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो** यानी परिशुद्ध, सुंदर और कांतिपूर्ण नहीं रह गया।

सिथिलानि च होन्ति गत्तानि, सब्बानि वलियजातानि।

– सारे गात्र शिथिल पड़ गये हैं, सर्वत्र झुर्रियां पड़ गयी हैं।

पुरतो पब्भारो च कायो – शरीर आगे की ओर झुक गया है,

दिस्सति च इन्द्रियानं अञ्ञथत्तं,

– आंख, कान आदि सारी इंद्रियां पहले जैसी नहीं रहीं, दुर्बल हो गयी हैं।

ताव मनोरमं बिम्बं, जराय अभिमद्दितं। (सं० नि० ३.५.५११, जराधम्मसुत्त)

– इस मनोरम देह-बिंब को जरा ने अभिमर्दित कर दिया है।

दुष्कर-चर्या

वैसे एक बार बिना जरा अवस्था आये ही बोधि-सत्त्व ने काय-दंडन की दुष्करचर्या द्वारा अपने स्वर्ण-वर्ण सुंदर शरीर को दुर्वर्ण बना लिया था।

परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो उपहतो होति,

– त्वचा का परिशुद्ध, निर्मल छविवर्ण नष्ट हो गया,

तायेवप्पाहारताय – निराहार के कारण,

(म० नि० २.३३४, बोधिराजकुमारसुत्त)

अत्तकिलमथानुयोगेन - आत्म-क्लेश की साधना के कारण,

दुष्कर उपवास आदि करके उन्होंने अपने शरीर को बार-बार पीड़ित कर इतना क्षीण कर लिया था कि वह हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया था। पेट को हाथ लगाये तो पीठ की हड्डी छू जाय। आंखें गड्ढों में धँस गयी थीं। सिर की चमड़ी ऐसे सिकुड़ गयी थी जैसे कोई लौकी धूप और हवा में सिकुड़ कर मुरझा जाय। लेकिन जब इस निकम्मी, निरर्थक काय-कष्ट की साधना को छोड़ कर युक्त आहार-विहार ग्रहण किया और मध्यम-मार्ग अपनाया, तो शरीर पुनः पहले जैसा सबल, स्वस्थ और कांतिपूर्ण हो गया। ऐसे कांतिपूर्ण शरीर को देख कर ही आजीवक उपक उनकी ओर आकर्षित हुआ था।

लेकिन अब तो यह जरावस्था की जीर्णता है, दुर्बलता है, जो समय पकने पर सबको आती है। यह पुनः युवावस्था प्राप्त नहीं कर पाती। इस जीर्ण जरावस्था का एक दृश्य और देखते हैं, जब भगवान इसे लक्ष्य करके कहते हैं -

अहं खो पनानन्द, एतरहि जिण्णो वुद्धो महल्लको अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो। आसीतिको मे वयो वत्तति।

- हे आनंद, मैं इस समय जीर्ण, वृद्ध, महल्लक, ढलती उम्र का वयःप्राप्त व्यक्ति हूं। मेरी उम्र अस्सी वर्ष की है।

और फिर कहते हैं -

सेय्यथापि, आनन्द, जज्जरसकटं वेठमिस्सकेन यापेति।

(दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

- आनंद, जैसे कोई जर्जरित गाड़ी को बांध-बूंधकर चलाता है, वैसे ही मैं इस शरीर को चला रहा हूं।

व्याधि-धर्मा

भगवान ने स्वयं इस बात की घोषणा की थी कि वे बीमार कम ही होते हैं।

यानी खो पन तानि वेदयितानि,

- ये वेदनाएं जो कि,

पित्तसमुट्ठानानि वा सेम्हसमुट्ठानानि वा वातसमुट्ठानानि वा,

- प्रकुप पित्त से, या प्रकुप कफ से, या प्रकुप वायु से या

सन्निपातिकानि वा उतुपरिणामजानि वा विसमपरिहारजानि वा,

- सन्निपात ज्वर से या ऋतु परिवर्तन से या विषम परिस्थितियों से या

ओपक्कमिकानि वा कम्मविपाकजानि वा,

- किसी उपक्रमण से अथवा पूर्व कर्मों के विपाक से उत्पन्न होती हैं,

तानि मे न बहुदेव उप्पज्जन्ति - वैसी मुझे अधिकतर नहीं होतीं।

इसी कारण तथागत ने घोषणा की कि -

अप्पाबाधोहमस्मि - मैं प्रायः निरोग रहता हूं।

(अ० नि० २.५.१०४, समणसुखुमालसुत्त)

उन्होंने प्रायः निरोग रहने का कारण भी बताया।

अहं खो, भिक्खवे, एकासनभोजनं भुञ्जामि।

(म० नि० १.३२५, ककचूपमसुत्त)

- भिक्षुओ, मैं 'एकासन' यानी दिन में एक बार ही भोजन करता हूं।

और दूसरा कारण बताया -

अहं खो, भिक्खवे, अञ्ञत्रेव रत्तिभोजना भुञ्जामि।

- भिक्षुओ, (एक भोजन भी) मैं रात के समय नहीं करता।

इन कारणों से मैं -

अप्पाबाधतञ्च सञ्जानामि, अप्पातङ्कतञ्च, लहुट्ठानञ्च, बलञ्च, फासुविहारञ्च।

(म० नि० २.१७४, कीटागिरिसुत्त)

- आरोग्य, अव्याकुलता, हल्कापन, बल और सुख का अनुभव करते हुए विहार करता हूं।

स्पष्ट है कि तथागत सामान्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक स्वस्थ रहते थे।

परंतु फिर भी जैसे जग वैसे ही व्याधि भी शरीर का धर्म है, स्वभाव है, जो कि एक न एक कारण से यदा-कदा प्रकट होती रहती है। अतः तथागत कभी-कभी व्याधि-ग्रस्त भी हो जाते थे। जैसे -

कब्जियत

छः वर्षों की दुष्कर चर्या के कारण उन्हें कभी-कभी उदर रोग हो जाता था। एक बार राजगृह में रहते हुए उन्हें कब्जियत की शिकायत हुई। राजवैद्य जीवक ने उनके शरीर की जांच की और रोग का निदान किया। उपचार के लिए उसने तीन कमल-नाल को औषधियों से भावित किया और आनंद से भगवान के शरीर को स्निग्ध करने के लिए कहा। तदुपरांत उसने कमल-नाल से बनी औषधि तथागत को तीन बार सूंघने को दी। सूंघने पर भगवान को तीस बार जुलाब (दस्त) हुआ और वे रोगमुक्त हुए।

पत्थर की चोट

देवदत्त ने प्रदुष्ट चित से जिस बड़ी चट्टान को गृध्रकूट पर्वत पर चढ़ते हुए तथागत की ओर लुढ़काया, वह तो तथागत तक नहीं पहुँच पायी, पर उसका एक टुकड़ा छिटक कर उनके पांव पर आ लगा, जिससे गहरा घाव हो गया। यद्यपि तथागत का शिष्य राजवैद्य जीवक उनकी समुचित चिकित्सा करता रहा, तो भी इस शारीरिक व्याधि की वेदनाएं अत्यंत तीव्र थीं।

हम देखते हैं कि राजगृह के मद्दकुच्छि मृगदाय वन में तथागत विहार कर रहे हैं, तब -

भगवतो पादो सकलिकाय खतो होति।

- भगवान का पांव पत्थर के टुकड़े से क्षत हो गया।

भुसा सुदं भगवतो वेदना वत्तन्ति सारीरिका वेदना दुक्खा तिब्बा खरा कटुका असाता अमनापा।

- इस समय भगवान को बहुत वेदना हो रही है। यह शारीरिक वेदनाएं हैं, जो बहुत तीव्र, प्रचंड, कटु, अप्रिय और अवांछित हैं।

इस तीव्र शारीरिक वेदना को -

ता सुदं भगवा सतो सम्पजानो अधिवासेति अविहञ्ञमानो।

(सं० नि० १.१.३८, सकलिकसुत्त)

- भगवान स्मृति एवं संप्रज्ञान के साथ, अविचलित होकर सहन कर रहे हैं।

वातरोग

रुग्ण अवस्था की एक और घटना।

तब तथागत श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। उस समय वे वातरोग से पीड़ित थे। उन्होंने अपने उपस्थाक यानी सेवक उपवाण से गर्म पानी मांगा।

इङ्घ मे त्वं, उपवाण, उण्होदकं जानाहि। (सं० नि० १.१.१९९, देवहितसुत्त)

- हे उपवाण, तुम जानते हो मेरे लिए गर्म पानी (कहां मिलेगा?)

उपवाण किसी गृहस्थ के यहां से गरम पानी ले आया और गुड़ की एक पोटली भी। उसने लौट कर तथागत को गरम पानी से स्नान कराया और गरम पानी में गुड़ घोल कर पिलाया। इससे उनकी वात-पीड़ा दूर हुई।

कपिलवस्तु में रुग्ण

उनकी रुग्ण अवस्था का एक और प्रसंग -

एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं निग्रोधारामे।

- एक समय भगवान शाक्य प्रदेश में कपिलवस्तु के निग्रोधाराम में विहार कर रहे थे।

तेन खो पन समयेन भगवा गिलाना वुट्ठितो होति अचिरवुट्ठितो गेलञ्ञा।

(अ० नि० १.३.७४, महानामसक्कसुत्त)

- तब भगवान को बीमारी से उठे हुए थोड़ा ही समय बीता था।

बोज्झङ्ग

एक अन्य प्रसंग जब कि भगवान -

राजगहे विहरति वेळुवने कलन्दकनिवापे

- राजगृह के वेणुवन कलंदकनिवाप में विहार कर रहे थे।

उस समय भगवान -

आबाधिको होति दुक्खितो बाळ्हगिलानो - किसी पीड़ादायक रोग से ग्रसित थे।

(सं० नि० ३.५.१९७, ततिय गिलानसुत्त)

तब बोज्झंग धर्म का सहारा लेकर रोग-मुक्त हुए थे।

नंदक

पीठ-दर्द से भगवान कई बार पीड़ित हुए थे।

एक बार वे श्रावस्ती के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे। संध्या हो जाने पर ध्यान से उठ कर उपस्थानशाला पहुँचे। वहां आयुष्मान नंदक भिक्षुओं को धर्मोपदेश दे रहे थे। उपदेश पूरा होने तक के लिए भगवान बाहर बरामदे में खड़े रहे। परंतु उपदेश लंबा चला, तब उन्होंने खांस कर उपस्थानशाला के दरवाजे की कुंडी खटखटायी। दरवाजा खुला। भगवान भीतर जाकर बिछे आसन पर बैठ गये और आयुष्मान नंदक से बोले -

दीघो खो त्यायं, नन्दक, धम्मपरियायो भिक्खूनं पटिभासि।

- नंदक, सचमुच तूने भिक्षुओं को जो यह प्रवचन दिया वह वस्तुतः बड़ा लंबा चला रे!

अपि मे पिट्ठि आगिळायति बहिद्वाकोट्ठके ठितस्स कथापरियोसानं आगमयमानस्स।

(अ० नि० ३.९.४, नन्दकसुत्त)

- प्रवचन के समापन की प्रतीक्षा में दरवाजे के बाहर बरामदे में खड़े-खड़े मेरी पीठ दुखने लगी।

नळकपान

उन दिनों भगवान भिक्षु संघ के साथ कोशल प्रदेश में यात्रा कर रहे थे। कुछ समय के लिए नळकपान नामक निगम के पलासवन में रुके। वहां रात देर तक भगवान भिक्षुओं को उपदेश देते रहे। भिक्षु मौन रह कर सुन रहे थे। तब उन्होंने आयुष्मान सारिपुत्त से कहा -

पटिभातु तं, सारिपुत्त, भिक्खूनं धम्मी कथा।

- अच्छा हो, सारिपुत्त, (अब) तुम भिक्षुओं के लिए धर्मकथा मन में लाओ। (यानी अब तुम धर्मकथा कहो।)

पिट्ठि मे आगिळायति - मेरी पीठ दुख रही है।

तमहं आयमिस्सामि - मैं इसे विश्राम दूंगा।

(अ० नि० ३.१०.६७, पठमनळकपानसुत्त)

कपिलवस्तु -पावा

इसी प्रकार भगवान ने एक बार कपिलवस्तु में शाक्यों के नये बने संस्थागार में (म० नि० २.२२, सेखसुत्त) और एक बार पावा में मल्लों के नये बने संस्थागार में (दी० नि० ३.३००, सङ्गीतिसुत्त) प्रवचन देते हुए अपनी पीठ दुखने की शिकायत की और कहा -

तमहं आयमिस्सामि - मैं इसे विश्राम दूंगा ।

भयंकर पीड़ादायक रोग

राजगृह में कुछ दिनों विहार कर भगवान चारिका करते हुए वैशाली पहुँचे। वहां अंबपाली के आम्रवन में कुछ समय रुक कर वेलुवग्राम आये। यहीं उन्होंने वर्षावास किया। यह उनके भिक्षु-जीवन का अंतिम वर्षावास

था। लगभग अस्सी वर्ष का शरीर जरा-जीर्ण था, दुर्बल था। इस वर्षावास के दौरान -

अथ खो भगवतो वस्सूपगतस्स खरो आबाधो उप्पज्जि, बाळ्हा वेदना वत्तन्ति मारणन्तिका।

- तब भगवान को वर्षावास में भयंकर रोग हुआ, जिसके कारण प्रबल मरणांतक पीड़ा होने लगी।

ता सुदं भगवा सतो सम्पजानो अधिवासेसि अविहञ्ञमानो।

- भगवान ने उसे **सतो सम्पजानो** यानी स्मृतिमान और संप्रज्ञानी हो, बिना विचलित हुए सहन किया।

भगवान ने देखा शरीर छोड़ने के लिए न यह उचित स्थान है, न समय। अतः इच्छा-मृत्यु की शक्ति से संपन्न तथागत ने निर्णय किया और

यंनूनाहं इमं आबाधं वीरियेन पटिपणामेत्वा जीवितसङ्खारं अधिट्ठाय विहरेय्यं।

- उस व्याधि को बलपूर्वक हटा कर, जीवनी-शक्ति को अधिष्ठान द्वारा धारण कर विहार करने लगे।

यह व्याधि इतनी तीव्र थी कि किसी को उनके बचने की आशा नहीं रह गयी थी। आनंद बहुत चिंतित थे। भगवान को स्वस्थ देख वह प्रसन्न हुए और बोले कि भगवान की रुग्ण अवस्था के समय -

मधुरकजातो विय कायो - मेरा शरीर मद्यप की भांति संज्ञा-शून्य होकर लड़खड़ाने लगा था,

दिसापि मे न पक्खायन्ति - मुझे दिशाएं भी नहीं सूझ रही थीं,

धम्मापि मं न पटिभन्ति भगवतो गेलञ्ञेन।

(दी० नि० २.१६४, महापरिनिब्बानसुत्त)

- भगवान की बीमारी के कारण मुझे धर्मों का भी प्रतिभान नहीं हो रहा था।

आनंद अभी शैक्ष्य थे। अरहंत अवस्था तक नहीं पहुँचे थे। परंतु भगवान तो भगवान थे। **अविहञ्ञमानो** अर्थात अविचलित ही रहे।

चुंद भोजन

ऐसे ही एक भयंकर एवं कष्टदायक रोग से भगवान पुनः रुग्ण हुए।

भगवान ने वैशाली में विहार करते हुए आयु-संस्कार का त्याग कर तीन महीने पश्चात, यानी आगामी वैशाख पूर्णिमा को शरीर छोड़ने का निर्णय किया था। इस निमित्त उन्होंने कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में चुंद कर्मार-पुत्र के घर भोजन ग्रहण किया। परिणामस्वरूप -

खरो आबाधो उप्पज्जि, लोहितपक्खन्दिका पबाळ्हा वेदना वत्तन्ति मारणन्तिका। (दी० नि० २.१९०, महापरिनिब्बानसुत्त)

- खून गिरने का कष्टदायक रोग उत्पन्न हुआ, जिससे प्रबल मरणांतक वेदनाएं होने लगीं।

भगवान अपने साधकों को सिखाते थे -

तस्मातिह ते, गहपति, एवं सिक्खितब्बं - 'आतुरकायस्स मे सतो चित्तं अनातुरं भविस्सती'ति। (सं० नि० २.३.१, नकुलपितुसुत्त)

- हे गृहपति (नकुल पिता), तुम्हें यही सीखना चाहिए कि 'शरीर रोगी हो जाय तो भी चित्त निरोगी ही रहे'।

भगवान जो सिखाते थे, वही स्वयं पालते भी थे। इसीलिए -

ता सुदं भगवा सतो सम्पजानो अधिवासेसि अविहञ्ञमानो।

(दी० नि० २.१६४, महापरिनिब्बानसुत्त)

- भगवान इस मरणांतक शारीरिक पीड़ा को **सतो सम्पजानो** और **अविहञ्ञमानो** हो स्वीकार कर, सहन करते रहे।

मिथ्या मान्यता

कुछ लोगों की यह मिथ्या मान्यता थी कि युवावस्था में ही प्रज्ञा प्रबुद्ध रहती है, चैतन्य-निपुणता बनी रहती है; परंतु ८० या १०० वर्ष की उम्र हो जाने पर सबकी मति मारी जाती है, प्रज्ञा क्षीण हो जाती है, निपुणता नष्ट हो जाती है। भगवान ने इस मान्यता का खंडन किया और स्वयं अपना तथा अपने शिष्यों का उदाहरण देकर समझाया –

अहं खो पन, सारिपुत्त, एतरहि जिण्णो, वुड्ढो, महल्लको, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो।

– सारिपुत्त, मैं इस समय जरा-जीर्ण, वृद्ध, बूढ़ा, पकी उम्र का वयःप्राप्त व्यक्ति हूं।

आसीतिको मे वयो वत्तति – मेरी उम्र अस्सी वर्ष की है।

और केवल मैं ही नहीं,

चत्तारो सावका – ये चार श्रावक शिष्य हैं, जो कि –

वस्ससतायुका वस्ससतजीविनो – शतायु हैं, सौ वर्ष का जीवन जी रहे हैं।

परमाय सतिया च, गतिया च, धितिया च, समन्नागता,

– परम स्मृति से, गति से, धृति से समन्वित हैं और –

परमेन च पञ्ञावेय्यत्तियेन – स्पष्ट ही परम प्रज्ञा समन्वित हैं।

(म० नि० १.१६१, महासीहनादसुत्त)

किसी भी बुद्ध की रूपकाया भले श्रांत और क्लांत हो जाय, पर धर्मकाया स्मृति और संप्रज्ञान से सदैव परिपूर्ण रहती है। अतः सर्वथा स्वस्थ रहती है।

रूपकाया दुर्बल; धर्मकाया सबल

जरा और व्याधि से शरीर अत्यंत थक गया था। अतः कुशीनगर की ओर जाते हुए किसी एक वृक्ष के नीचे रुक कर भगवान ने आनंद से कहा –

इङ्घ मे त्वं, आनन्द, चतुग्गुणं सङ्घाटिं पञ्ञपेहि। किलन्तोस्मि, आनन्द, निसीदिस्सामि।

– हे आनंद, संघाटी चौपरती करके बिछा दो। मैं थक गया हूं, बैठूंगा।

जरावस्था के साथ-साथ, रक्तातिसार के कारण भी शरीर अत्यंत कृश, दुर्बल और असहाय हो गया था। प्यास लगी, तो पानी मांगा –

इङ्घ मे त्वं, आनन्द, पानीयं आहर। पिपासितोस्मि, आनन्द, पिविस्सामि।

(दी० नि० २.१९१, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आ आनंद, तुम मेरे लिए पानी ले आओ। प्यासा हूं, आनंद, पानी पीऊंगा।

आनंद चाहते थे कि भगवान यहां का पानी न पीयें, क्योंकि यहां जो नदी थी, वह छिछले जल वाली थी और अभी-अभी उस पर से पांच सौ बैलगाड़ियां गुजरी थीं। परिणामतः चक्कों से मथा जाकर पानी मैला हो गया था। कुछ दूर जाने पर ककुत्था नदी मिलेगी, जिसका पानी बड़ा स्वच्छ और निर्मल होगा। परंतु भगवान ने यहीं पानी पीने का आग्रह किया। उन्हें बहुत प्यास लगी थी। संभवतः प्रबल पेचिश के कारण शरीर में जल तत्व की कमी हो गयी थी। रूपकाया तो आखिर रूपकाया है, प्रकृति के नियमों के अधीन है। यह अलग बात है कि जब आनंद पानी लेने गये, तो धर्मकाया के तेज-बल से उस नदी का पानी शांत हो गया था, मैल नीचे बैठ गया था और आनंद को भगवान के लिए स्वच्छ, निर्मल जल उपलब्ध हो गया।

मल्लपुत्र पुक्कुस

रूपकाया की इस दुर्बल और रुग्ण अवस्था में भी भगवान की धर्मकाया पूर्ण स्वस्थ थी। रास्ते में भगवान एक वृक्ष तले विश्राम के लिए बैठे। पुक्कुस नामक मल्लपुत्र उस रास्ते से गुजरा। भगवान को देख उनके समीप आया और नमन करके समीप बैठ गया। भगवान की रूपकाया क्लांत थी, परंतु धर्मकाया पूर्ण स्वस्थ थी। उन्होंने पुक्कुस मल्लपुत्र को धर्मोपदेश दिया। उसकी शंकाओं का समाधान करते हुए छहों इंद्रियों के परे निर्वाणिक अवस्था समझाते हुए अपने जीवन का एक अनुभव सुनाया। मल्लपुत्र पुक्कुस अत्यंत प्रभावित हुआ और फलस्वरूप भगवान का अंजलिबद्ध अनुगामी बना। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान को सुवर्ण वर्ण का एक जोड़ा दुशाला अर्पित किया। भगवान ने उसमें से एक आनंद को देने के लिए कहा। पुक्कुस एक दुशाला भगवान को और एक आनंद को ओढ़ा कर, प्रसन्नचित्त, नमस्कार करता हुआ चला गया।

दो अवसरों पर रूपकाया प्रभापूर्ण

थोड़ी देर बाद आनंद ने अपना दुशाला भी भगवान को ओढ़ा दिया। उस समय आनंद ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि भगवान की वृद्ध, जर्जरित रुग्ण काया एक बार फिर पूर्ववत स्वर्ण-वर्ण होकर कांतिमय हो उठी है। आनंद ने अपना विस्मय प्रकट किया। भगवान ने उसका समाधान करते हुए कहा –

एवमेतं, आनन्द, द्वीसु कालेसु अतिविय तथागतस्स कायो परिसुद्धो होति छविवण्णो परियोदातो।

– ऐसा ही होता है आनंद, दो अवसरों पर तथागत की काया का वर्ण अत्यंत परिशुद्ध और कांतिमय हो उठता है।

कतमेसु द्वीसु – किन दो अवसरों पर?

यञ्च आनन्द, रत्तिं तथागतो अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुज्झति,

– आनंद, जिस रात तथागत अनुत्तर, अनुपम सम्यक संबोधि का संबोध प्राप्त करते हैं,

और दूसरे –

यञ्च रत्तिं अनुपादिसेसाय निब्बानधातुया परिनिब्बायति।

(दी० नि० २.१९५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– जिस रात तथागत उपादि रहित यानी आवागमन के उपादान रहित महापरिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जब बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि उपलब्ध होती है और इंद्रियातीत निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार होता है तब –

विसङ्खारगतं चित्तं...।

– नया भव प्रदान करने वाले सभी संस्कारों से चित्त विमुक्त हो जाता है। बोधिसत्त्व की लंबी भवयात्रा की तपस्या सफलीभूत होती है। वे भवमुक्त होते हैं। सचमुच धर्मकाया का यह परम उज्ज्वल अवसर होता है और धर्मकाया की यह उज्ज्वलता रूपकाया पर भी प्रभासित होती है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है, परंतु इसमें रूप और नाम के पंच-स्कंधों की उपादि साथ चलती है। अतः इसे सोपधिशेष निर्वाण कहते हैं। महापरिनिर्वाण के समय यह उपादि भी छूट जाती है।

अभेदि कायो – काया का भेदन हो गया,

निरोधि सञ्ञा – संज्ञा निरुद्ध हो गयी,

वेदना सीतिभविंसु सब्बा – सारी वेदनाएं शीतलीभूत हो गयीं, शांत हो गयीं,

वूपसमिंसु सङ्खारा – संस्कारों का उपशमन हो गया,

विञ्ञाणं अत्थमागमा – विज्ञान का अस्तगमन हो गया।

(उदा० ७९, पठमदब्बसुत्त)

इस तरह नाम और रूप के पांचों स्कंध समाप्त हो जाते हैं। सारी उपधि समाप्त हो जाती है। यह निरुपधि-शेष निर्वाण की अवस्था अत्यंत

महत्त्वपूर्ण होती है। यह तथागत की चरम उपलब्धि है। यह समय जैसे-जैसे समीप आता है, धर्मकाया समुज्ज्वलित हो, रूपकाया पर प्रकट होती है।

हम देखते हैं, वह समय समीप आ रहा है। आज की रात समाप्त होते ही भगवान का महापरिनिर्वाण होगा। ककुत्था नदी के स्वच्छ, शीतल जल में भगवान ने स्नान किया और फिर भिक्षु चुंदक से कहा –

इङ्घ मे त्वं, चुन्दक, चतुग्गुणं सङ्घाटिं पञ्ञपेहि। किलन्तोस्मि, चुन्दक, निपज्जिस्सामि। (दी० नि० २.१९६, महापरिनिब्बानसुत्त)

–आओ, चुंदक, मेरे लिए संघाटी चौपरती करके बिछा दो। मैं थक गया हूं, लेटूंगा।

धर्मकाया की महाकरुणा

रूपकाया प्रभापूर्ण थी, कांतिमयी थी, परंतु क्लांत थी, थकी थी। उसे बिछी चौपरती संघाटी पर कुछ देर लेटा कर विश्राम दिया गया। उसे विश्राम की आवश्यकता थी। परंतु धर्मकाया पूर्ववत सबल-स्वस्थ थी, वह केवल प्रभास्वर ही नहीं थी, बल्कि उसमें से अपरिमित करुणा प्रवहमान हो रही थी। भगवान को सुबह के भोजनदाता चुंद कर्मार-पुत्र की याद आयी। भोले लोग समझेंगे नहीं। उस बेचारे की भर्त्सना करेंगे कि तूने कैसा भोजन खिलाया, जिससे भगवान परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। यह सुन कर चुंद दुःखी होगा। इसका ध्यान आते ही धर्मकाया करुणा-विगलित हो उठी। भगवान ने आनंद से कहा – आनंद, चुंद कर्मार-पुत्र की चिंता दूर करना। उसे इस प्रकार समझाना।

तस्स ते आवुसो, चुन्द, लाभा, तस्स ते सुलद्धं, यस्स ते तथागतो पच्छिमं पिण्डपातं परिभुञ्जित्वा परिनिब्बुतो।

– आयुष्मान चुंद, यह लाभ है तेरा। तूने यह बड़ा सुलाभ कमाया क्योंकि तेरा भिक्षा-दान तथागत का अंतिम भोजन हुआ, जिसे ग्रहण कर वे परिनिवृत्त हुए।

भगवान ने आनंद से कहा – चुंद को समझाना कि तथागत को दी गयी दो समय की भिक्षा महाफलदायी होती है। एक तो वह भिक्षा जिसे ग्रहण कर तथागत सम्यक संबोधि प्राप्त करते हैं और दूसरी वह जिसे ग्रहण कर निरुपधिशेष निर्वाण-धातु को प्राप्त हो परिनिवृत्त होते हैं।

चुन्दस्स, आनन्द, कम्मारपुत्तस्स एवं विप्पटिसारो पटिविनेतब्बो।

(दी० नि० २.१९७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– हे आनंद, इस प्रकार चुंद कर्मार-पुत्र की चिंता दूर करनी चाहिए।

धन्य है करुणामयी धर्मकाया!

रूपकाया का पूजन

धर्मकाया के धनी तथागत का ऐसा ही एक और करुणा-सिंचित दृश्य –

कुछ दूर और चल कर कुशीनगर के समीप हिरण्यवती नदी के तीर पर मल्लों का शालवन था। जब वहां पहुँचे, तब भगवान ने आनंद से कहा –

इङ्घ मे त्वं, आनन्द, अन्तरेन यमकसालानं उत्तरसीसकं मञ्चकं पञ्ञपेहि।

– आओ, आनंद, इन दो जुड़वां शाल वृक्षों के बीच में उत्तर की ओर सिरहाना करके मंचक (चारपाई) रख दो।

किलन्तोस्मि, आनन्द, निपज्जिस्सामि। – थका हूं आनंद, लेटूंगा।

जरा-जीर्ण रूपकाया सचमुच थकी थी। उसे विश्राम चाहिए था। परंतु धर्मकाया पूर्णतया प्रभास्वर थी, स्वस्थ थी, सबल थी। महापरिनिर्वाण का समय समीप आया देख कर आनंद ने भगवान से पूछा –

कथं मयं, भन्ते, तथागतस्स सरीरे पटिपज्जामाति?

– भंते, हम तथागत के शरीर के प्रति कैसा व्यवहार करें?

भगवान ने उत्तर दिया–

अलं वतानन्द, तुम्हे, आनन्द, होथ तथागतस्स सरीरपूजाय।

– आनंद, तुम तथागत की शरीर-पूजा में मत उलझना।

इङ्घ तुम्हे, आनन्द, सारत्थे घटथ अनुयुञ्जथ; सारत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ। (दी० नि० २.१९८, २०४, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, अच्छा यही है कि तुम सब सार प्राप्त करने में लग जाओ। अप्रमादी और आत्म-संयमी होकर सार के लिए तप करना। तुम्हारे लिए यही करणीय है।

रूपकाया और स्तूप

तथागत की निष्प्राण रूपकाया की दाहक्रिया करके बचे हुए अस्थि-अवशेष के लिए भगवान का निर्देश था–

चातुमहापथे तथागतस्स थूपो कातब्बो।

– तथागत के (अस्थि-अवशेष की) स्थापना के लिए बड़े चौराहे पर स्तूप बनाना चाहिए।

वहां आकर कृतज्ञ नागरिक पुष्प-माला, गंध आदि चढ़ाते हुए अपने मन में तथागत के प्रति श्रद्धाजनित प्रसन्नता जगायेंगे।

तेसं तं भविस्सति दीघरत्तं हिताय सुखाय।

(दी० नि० २.२०५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– वह चिरकाल तक उनके हित, सुख के लिए होगा।

कृतज्ञताभरी श्रद्धा से जब कोई अपने मन में निर्मल प्रसन्नता जगाता है तो उस पुण्यकर्म का फल भी स्वभावतः प्रसन्नता-प्रदायक ही होता है।

तथागत की रूपकाया के अस्थि-अवशेषों को यों स्तूपों में निधान कर सुरक्षित रखने का एक अन्य लाभ यह भी होता है कि उनके एक हाड़-मांस वाले ऐतिहासिक महापुरुष होने की सच्चाई का प्रमाण चिरकाल तक स्वतःसिद्ध रहता है। उन्हें एक काल्पनिक पौराणिक व्यक्ति मानने का भ्रम दूर होता है।

यही नहीं, सहस्रों वर्षों तक जन-साधारण को तथागत के प्रति कृतज्ञता भरे श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हुए वंदना करने का पुण्य अवसर मिलता रहता है।

विशिष्ट लाभ

इसके अतिरिक्त गंभीर विपश्यी साधकों को उस अद्भुत रूपकाया के अस्थि-अवशेषों से निरंतर प्रस्फुटित होती हुई निर्मल निःस्पृहता की धर्मतरंगों के सान्निध्य में साधना करने का ठोस लाभ मिलता रहता है। रूपकाया में अंतर्निहित धर्मकाया की पावन तरंगों का लाभ लेना ही बुद्ध-वंदना की सार्थकता है। शरीर-पूजन की तुलना में इसका लाभ अपरिमित है। इसीलिए तथागत ने आनंद को शरीर-पूजन के स्थान पर **अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ** का प्रेरणाजनक उपदेश दिया। वास्तविक बुद्ध-वंदना तो यही है।

एक पूर्व अवसर पर इसे स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा था–

आरद्धवीरिये पहितत्ते, निच्चं दळ्हपरक्कमे।
समग्गे सावके पस्स, एतं बुद्धानवन्दनं॥

(अप० थेरी २.२.१७१, महापजापतिगोतमीथेरीअपदान)

– एकत्र हो वीरतापूर्वक नित्य दृढ़ पराक्रम में लगे हुए इन ध्यानी श्रावकों को देखो। (यों निष्ठापूर्वक साधना में जुट जाना) यही सही बुद्ध-वंदना है।

रूपकाया में समायी हुई धर्मकाया ही वास्तविक बुद्ध-काया है। धर्मानुपश्यना द्वारा ही विपश्यी साधक इस धर्मकाया की वंदना करता है। साधकों के लिए यही करणीय है।

आनंद को सांत्वना

महापरिनिर्वाण का समय और समीप आ रहा था। आनंद अभी शैक्ष्य ही थे। अरहंत नहीं हो पाये थे, इस कारण बहुत व्यथित थे। भगवान ने उन्हें समीप बुलाया और ढाढ़स बँधाते हुए कहा–

दीघरत्तं खो ते, आनन्द, तथागतो पच्चुपट्ठितो मेत्तेन कायकम्मेन... मेत्तेन वचीकम्मेन... मेत्तेन मनोकम्मेन हितेन सुखेन अद्वयेन अप्पमाणेन।

इह तुम्हे, आनन्द, सारत्थे घटथ अनुयुञ्जथ; सारत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ। (दी० नि० २.१९८, २०४, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, अच्छा यही है कि तुम सब सार प्राप्त करने में लग जाना। अप्रमादी और आत्म-संयमी होकर सार के लिए तप करना। तुम्हारे लिए यही करणीय है।

रूपकाया और स्तूप

तथागत की निष्प्राण रूपकाया की दाहक्रिया करके बचे हुए अस्थि-अवशेष के लिए भगवान का निर्देश था–

चातुमहापथे तथागतस्स थूपो कातब्बो।

– तथागत के (अस्थि-अवशेष की) स्थापना के लिए बड़े चौराहे पर स्तूप बनाना चाहिए।

वहां आकर कृतज्ञ नागरिक पुष्प-माला, गंध आदि चढ़ाते हुए अपने मन में तथागत के प्रति श्रद्धाजनित प्रसन्नता जगायेंगे।

तेसं तं भविस्सति दीघरत्तं हिताय सुखाय।

(दी० नि० २.२०५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– वह चिरकाल तक उनके हित, सुख के लिए होगा।

कृतज्ञताभरी श्रद्धा से जब कोई अपने मन में निर्मल प्रसन्नता जगाता है तो उस पुण्यकर्म का फल भी स्वभावतः प्रसन्नता-प्रदायक ही होता है।

तथागत की रूपकाया के अस्थि-अवशेषों को यों स्तूपों में निधान कर सुरक्षित रखने का एक अन्य लाभ यह भी होता है कि उनके एक हाड़-मांस वाले ऐतिहासिक महापुरुष होने की सच्चाई का प्रमाण चिरकाल तक स्वतःसिद्ध रहता है। उन्हें एक काल्पनिक पौराणिक व्यक्ति मानने का भ्रम दूर होता है।

यही नहीं, सहस्रों वर्षों तक जन-साधारण को तथागत के प्रति कृतज्ञता भरे श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हुए वंदना करने का पुण्य अवसर मिलता रहता है।

विशिष्ट लाभ

इसके अतिरिक्त गंभीर विपश्यी साधकों को उस अद्भुत रूपकाया के अस्थि-अवशेषों से निरंतर प्रस्फुटित होती हुई निर्मल निःस्पृहता की धर्मतरंगों के सान्निध्य में साधना करने का ठोस लाभ मिलता रहता है। रूपकाया में अंतर्निहित धर्मकाया की पावन तरंगों का लाभ लेना ही बुद्ध-वंदना की सार्थकता है। शरीर-पूजन की तुलना में इसका लाभ अपरिमित है। इसीलिए तथागत ने आनंद को शरीर-पूजन के स्थान पर **अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ** का प्रेरणाजनक उपदेश दिया। वास्तविक बुद्ध-वंदना तो यही है।

एक पूर्व अवसर पर इसे स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा था–

आरद्धवीरिये पहितत्ते, निच्चं दळ्हपरक्कमे।
समग्गे सावके पस्स, एतं बुद्धानवन्दनं॥

(अप० थेरी २.२.१७१, महापजापतिगोतमीथेरीअपदान)

– एकत्र हो वीरतापूर्वक नित्य दृढ़ पराक्रम में लगे हुए इन ध्यानी श्रावकों को देखो। (यों निष्ठापूर्वक साधना में जुट जाना) यही सही बुद्ध-वंदना है।

रूपकाया में समायी हुई धर्मकाया ही वास्तविक बुद्ध-काया है। धर्मानुपश्यना द्वारा ही विपश्यी साधक इस धर्मकाया की वंदना करता है। साधकों के लिए यही करणीय है।

आनंद को सांत्वना

महापरिनिर्वाण का समय और समीप आ रहा था। आनंद अभी शैक्ष्य ही थे। अरहंत नहीं हो पाये थे, इस कारण बहुत व्यथित थे। भगवान ने उन्हें समीप बुलाया और ढाढ़स बँधाते हुए कहा–

दीघरत्तं खो ते, आनन्द, तथागतो पच्चुपट्ठितो मेत्तेन कायकम्मेन... मेत्तेन वचीकम्मेन... मेत्तेन मनोकम्मेन हितेन सुखेन अद्वयेन अप्पमाणेन।

– आनंद, तूने दत्तचित्त होकर, चिरकाल तक अकेले, अपरिमित हितसुख के लिए मैत्रीपूर्ण कायिककर्म द्वारा, मैत्रीपूर्ण वाचिककर्म द्वारा, मैत्रीपूर्ण मनोकर्म द्वारा तथागत की सेवा की है।

कतपुञ्ञोसि त्वं, आनन्द – आनंद, तुम कृत-पुण्य हो।

पधानमनुयुञ्ज, खिप्पं होहिसि अनासवोति।

(दी० नि० २.२०७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– अब प्रधान (परिश्रम) पराक्रम में लगो। शीघ्र अनास्रव हो जाओ।

रूपकाया की सेवा तो बहुत की। अब विपश्यना द्वारा धर्मकाया की वंदना में लग जाना चाहिए। आनंद को महाकारुणिक भगवान की इस प्रेरणामयी वाणी से बड़ा धैर्य और संबल मिला। आगे जा कर आनंद ने अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए।

सुभद्र पर करुणा बरसी

उस समय कुशीनारा में रहने वाले सुभद्र नामक परिव्राजक ने सुना कि आज रात के पिछले याम के अंत में भगवान का महापरिनिर्वाण होगा। समय समीप आया देख कर, वह भगवान से धर्म सीखने के लिए चला आया। आनंद ने उसे रोका।

अलं, आवुसो सुभद्द – बस करो, आवुस सुभद्र,

मा तथागतं विहेठेसि – भगवान को कष्ट मत दो।

किलन्तो भगवा – भगवान थके हैं।

– तीन बार सुभद्र ने भगवान से मिलने की याचना की। तीनों बार आनंद ने उसे रोका।

यह कथा-संलाप भगवान के कानों में पड़ा। कोई धर्मगंगा के किनारे अपनी प्यास बुझाने आया है और उसे रोका जा रहा है। करुणा की धर्मगंगा में बाढ़ आ गयी। भगवान ने अपनी रूपकाया की असुविधा की उपेक्षा कर आनंद को आदेश दिया–

अलं, आनन्द, मा सुभद्दं वारेसि – बस करो, आनंद, सुभद्र को मत रोको,

लभतं, आनन्द, सुभद्दो तथागतं दस्सनाय – सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो।

यं किञ्चि मं सुभद्दो पुच्छिस्सति, सब्बं तं अञ्ञापेक्खोव पुच्छिस्सति, नो विहेसापेक्खो।

– सुभद्र मुझसे जो कुछ पूछेगा, परम ज्ञान की अपेक्षा से ही पूछेगा, मुझे कष्ट देने की अपेक्षा से नहीं।

और फिर कहा–

यञ्चस्साहं पुट्ठो ब्याकरिस्सामि, तं खिप्पमेव आजानिस्सति।

(दी० नि० २.२१२-२१३, महापरिनिब्बानसुत्त)

– पूछने पर मैं जो अभिव्यक्त करूंगा, उसे वह शीघ्र ही जान लेगा।

और यही हुआ।

भाग्यशाली सुभद्र ने भगवान की रूपकाया का नहीं, धर्मकाया का दर्शन किया। उन महाकारुणिक से धर्म सीखा और उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर कृत-कृत्य हुआ।

महापरिनिर्वाण के समीपवर्ती क्षणों में भी किसी एक मुमुक्षु का भला हो जाय, तथागत की धर्मकाया की यही करुण धर्मचेतना बनी रही।

अंतिम वचन

शरीर छोड़ने के पहले भगवान के अंतिम वचन थे–

हन्द दानि, भिक्खवे, आमन्तयामि वो – भिक्षुओ, तुम्हें आमंत्रित करता हूं। आओ, मेरी बात ध्यान से सुनो।

वयधम्मा सङ्खारा – सारे संस्कार (यानी जो कुछ बनते हैं वे सभी) व्ययधर्मा हैं, विनाशधर्मा हैं,

अप्पमादेन सम्पादेथ। (दी० नि० २.२१८, महापरिनिब्बानसुत्त)

सचमुच संतों द्वारा प्रज्ञापित सार्वजनीन सनातन आर्य-धर्म न जर्जरित होता है, न कालकवलित होता है। आर्य-धर्म ही तथागत की धर्मकाया है। तथागत की वाणी अर्थात **परियत्ति**, उसके अनुसार किया गया आचरण यानी **पटिपत्ति**, और उस प्रकार जीवन जी कर अविद्या का भेदन कर विमुक्त अवस्था का साक्षात्कार यानी **पटिवेधन**, यही सत्य-धर्म है, सद्धर्म है, संत-धर्म है, सार्वजनीन सनातन आर्य-धर्म है।

यही भगवान की धर्मकाया है।

आओ, भगवान की धर्मकाया को देखें, समझें – वह धर्मकाया जो सारे तिपिटक में समायी हुई है, जिससे सारा तिपिटक सराबोर है; सुरभित है; सुवासित है और समृद्ध है।

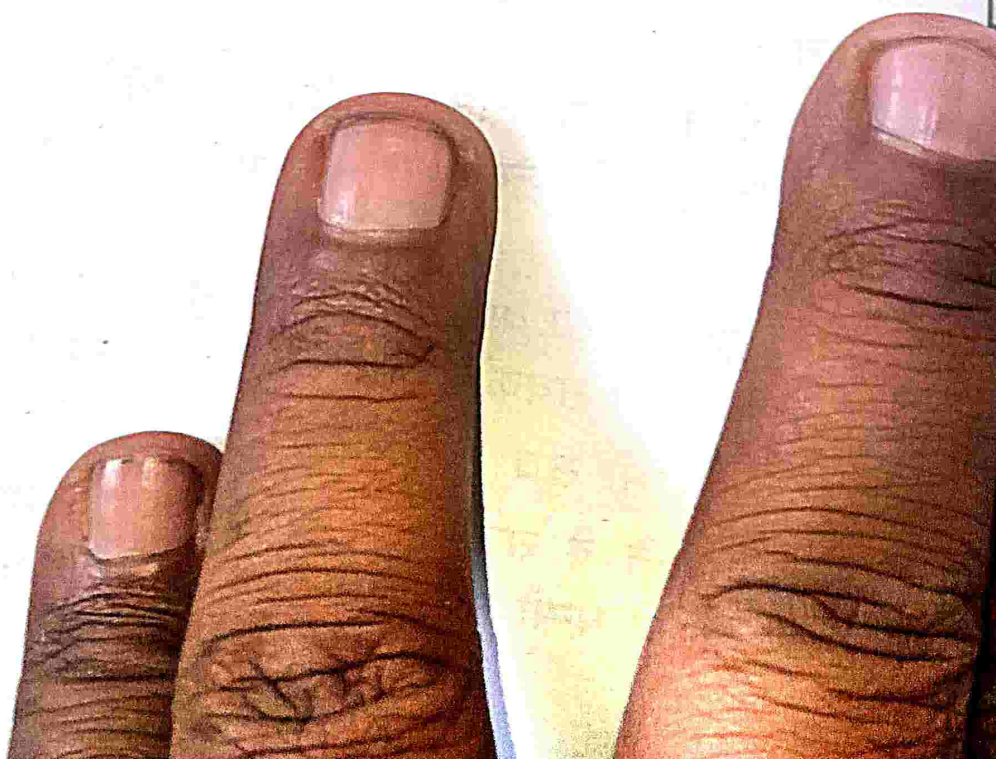

धर्मकाया

धर्मकाया

बत्तीस महापुरुष लक्षणों वाले किसी व्यक्ति का संसार में आविर्भाव दुर्लभ है। उसका उत्पन्न होना बड़े महत्त्व की बात है। परंतु उससे कहीं अधिक महत्त्व की बात है ऐसे व्यक्ति का धर्मकाया लिए हुए उत्पन्न होना। धर्मकाया ने ही बुद्ध को 'बुद्ध' बनाया, अन्यथा ऐसी रूपकाया वाला व्यक्ति एक चक्रवर्ती सम्राट बन कर रह जाता; एक अद्भुत भौतिक शरीर-सौंदर्य का भव्य प्रदर्शन मात्र बन कर रह जाता। परंतु जब ऐसे व्यक्ति का बुद्ध के रूप में आविर्भाव होता है तो मानो मूर्तिमान धर्म का प्रादुर्भाव होता है, जीवंत धर्म का आविर्भाव होता है। बुद्ध का व्यक्तित्व धर्ममय हो गया तो दूसरे शब्दों में यों कहें – बुद्ध के रूप में धर्म का मानवीकरण हो गया। बुद्ध का व्यक्तित्व बोधिमय हो गया तो दूसरे शब्दों में यों कहें – बुद्ध के रूप में बोधि का मानवीकरण हो गया।

जब कोई व्यक्ति बुद्ध होता है तो वह **धम्मकायो, धम्मभूतो** होता है; **ब्रह्मकायो, ब्रह्मभूतो** होता है। इसीलिए कहा गया है –

तथागतस्स हेतं, वासेट्ठ, अधिवचनं धम्मकायो इतिपि, ब्रह्मकायो इतिपि, धम्मभूतो इतिपि, ब्रह्मभूतो इतिपि।

(दी० नि० ३.११८, अग्गञ्ञसुत्त)

– हे वासिष्ठ, **धम्मकायो, ब्रह्मकायो, धम्मभूतो, ब्रह्मभूतो** – ये तथागत के ही अधिवचन हैं यानी समानार्थी, पर्यायवाची शब्द हैं।

एक घटना –

भगवान ने कुछ एक भिक्षुओं को संक्षेप में उपदेश दिया, जिसे विस्तार से समझ सकने के लिए वे स्थविर महाकात्यायन के पास गये। उन्होंने कहा कि जिन्हें सार खोजना हो, वे वृक्ष के मूल और तने को छोड़ कर डालियों और पत्तों में क्या ढूंढने आये हैं? भगवान के रहते इस उपदेश का अर्थ मुझसे क्यों पूछने आये हो? इस प्रसंग में उन्होंने भगवान के बारे में कहा –

सो हावुसो, भगवा जानं जानाति, पस्सं पस्सति, चक्खुभूतो ञाणभूतो धम्मभूतो ब्रह्मभूतो वत्ता पवत्ता अत्थस्स निन्नेता अमतस्स दाता धम्मस्सामी तथागतो। (म० नि० ३.२८१, महाकच्चानभद्देकरत्तसुत्त)

– आयुष्मान, यह भगवान जाननहार हैं, जानते हैं, देखनहार हैं, देखते हैं। (भगवान) चक्षुभूत हैं, ज्ञानभूत हैं, धर्मभूत हैं, (अनंत श्रेष्ठता स्वरूप) ब्रह्मभूत हैं; वक्ता हैं, प्रवक्ता हैं, अर्थ के निर्णेता हैं (निर्णायक हैं), अमृत के दाता हैं; धर्मस्वामी तथागत हैं।

महाकात्यायन जैसे भगवान के प्रमुख शिष्य नये-नये भिक्षुओं के आग्रह पर उनके लिए कभी-कभी भगवान की वाणी का स्पष्टीकरण और विशदीकरण कर दिया करते थे। तो भी हम देखते हैं कि अनेक वार भिक्षु भगवान से ही स्पष्टीकरण मांगते हुए कहते थे –

भगवंमूलका नो, भन्ते, धम्मा भगवंनेत्तिका भगवंपटिसरणा।

(सं० नि० १.२.१४६, चन्दूपमसुत्त)

– हमारे लिए भगवान धर्मों के मूल हैं, भगवान धर्म के नेता हैं, भगवान प्रतिशरण हैं।

सचमुच भगवान धर्म के मूल हैं, धर्म के सार हैं, क्योंकि वे धर्मभूत हैं यानी साक्षात धर्म ही हैं। सभी बुद्ध धर्मभूत होते हैं, धर्मसमन्वित होते हैं और सत्य धर्म प्रकाशित करते हैं।

येहायं देसितो धम्मो, धम्मभूतेहि तादिभि। (थेरगा० ८९१, सरभङ्गत्थेरगाथा)

– उन धर्मभूत बुद्धों ने इस धर्म का उपदेश दिया है।

धर्मभूत हैं, तो शुद्ध धर्म का ही उपदेश देंगे। चक्षुभूत हैं, तो धर्मचक्षु ही देंगे। आलोकभूत हैं, तो धर्मालोक ही देंगे।

पञ्ञं इमं पस्स तथागतानं, अग्गि यथा पज्जलितो निसीथे।
आलोकदा चक्खुददा भवन्ति, ये आगतानं विनयन्ति कङ्खन्ति॥

(थेरगा० ३, कङ्खितत्थेरगाथा)

– अँधेरी रात में प्रज्वलित अग्नि के समान तथागतों की इस प्रज्ञा को देखो। वे आलोक देने वाले हैं, ज्ञानचक्षु देने वाले हैं, आने वालों की शंकाओं को दूर करने वाले हैं।

चक्षुभूत हैं, इसलिए चक्षुदाता हैं और अपने धर्मपुत्रों को चक्षुमान बनाते हैं।

यञ्हि पुत्तो बुद्धस्स, यञ्च धम्मेसु चक्खुमा। (थेरगा० २९५, राहुलत्थेरगाथा)

– क्योंकि मैं बुद्ध का पुत्र हूं, धर्म के क्षेत्र में चक्षुमान हूं।

धर्मकाया अपरिमित

भगवान बुद्ध की रूपकाया प्रमाणवाली होती है, परिमित तथा ससीम होती है। परंतु धर्मकाया अप्रमाणवाली होती है, अपरिमित तथा असीम होती है क्योंकि धर्म अप्रमेय होता है, अपरिमित एवं असीम होता है –

अप्पमाणो धम्मो।

अपरिमित धर्म को धारण करने वाले की धर्मकाया भी अपरिमित होती है और इसीलिए **धम्मभूतो** बुद्ध भी अपरिमित होते हैं – **अप्पमाणो बुद्धो।**

(चूळव० २५१, खुद्दकवत्थूनि)

जिस भौतिक रूपस्कंध के कारण बुद्ध 'बुद्ध' के नाम से जाने जाते हैं, जिस वेदनास्कंध अथवा संज्ञास्कंध अथवा संस्कारस्कंध अथवा विज्ञानस्कंध, इन चारों नामस्कंधों के कारण बुद्ध 'बुद्ध' के नाम से जाने जाते हैं, निर्वाणिक अवस्था में उनके ये पांचों स्कंध निरुद्ध हो जाते हैं। इन स्कंधों के –

पहीनं उच्छिन्नमूलं तालावत्थुकतं अनभावङ्कतं आयतिं अनुप्पादधम्मं,

– प्रहीण हो जाने से, जड़ से उखड़ जाने से, सिर कटे ताड़ जैसे हो जाने से, अभाव को प्राप्त हो जाने से, भविष्य में बिल्कुल उत्पन्न न होने लायक हो जाने से –

विमुत्तो खो, वच्छ, तथागतो – हे वत्स, तथागत मुक्त हो गये तथा मुक्त होकर वे –

गम्भीरो अप्पमेय्यो दुप्परियोगाळ्हो – सेय्यथापि महासमुद्दो।

(म० नि० २.१९२, अग्गिवच्छसुत्त)

– समुद्र सदृश गंभीर हैं, गहन हैं, अप्रमेय हैं, दुष्पर्यवगाह्य हैं, अगाध हैं।

बुद्ध अप्रमेय और अगाध ही नहीं, अनमोल भी हैं, क्योंकि अनमोल धर्मरत्न में समाहित हैं। ऐसा धर्म जो कि -

खयं विरागं अमतं पणीतं, यदज्झगा सक्यमुनी समाहितो।
न तेन धम्मेन समत्थि किञ्चि, इदम्पि धम्मे रतनं पणीतं॥

(सु० नि० २२७, रतनसुत्त)

- समाहित चित्त होकर उन शाक्यमुनि भगवान बुद्ध ने जो आस्रवक्षय, विनष्टराग, अमृत अवस्था उपलब्ध की, उस लोकोत्तर निर्वाण-धर्म के समान अन्य कुछ भी नहीं है। सचमुच ऐसा श्रेष्ठ रत्न है धर्म में।

धर्म का ऐसा अनमोल रत्न पाकर ही बुद्ध-काया धर्मकाया बनी और स्वयं अनमोल हुई।

यं किञ्चि वित्तं इध वा हुरं वा, सग्गेसु वा यं रतनं पणीतं।
न नो समं अत्थि तथागतेन, इदम्पि बुद्धे रतनं पणीतं।

(सु० नि० २२६, रतनसुत्त)

- इस लोक में या परलोक में जो भी धन-संपत्ति है, अथवा स्वर्गों में जो भी अमूल्य रत्न हैं, उनमें से कोई भी तथागत बुद्ध के समान श्रेष्ठ नहीं है। सचमुच ऐसा उत्तम रत्न है बुद्ध में।

इस उत्तम धर्मरत्न के कारण ही बुद्ध 'बुद्ध' हैं, उनकी काया धर्मकाया है जो कि अनमोल है, पूज्य है, प्रणम्य है, वरेण्य है। ऐसा व्यक्ति कोई भी हो -

यो होति, भिक्खु, अरहं खीणासवो वुसितवा कतकरणीयो ओहितभारो अनुप्पत्तसदत्थो परिक्खीणभवसंयोजनो सम्मदञ्ञाविमुत्तो, सो नेसं अग्गमक्खायति।

- हे भिक्खु, जो अरहंत हैं, क्षीणास्रव हैं, धर्माचरण परिपूर्ण हैं, कृत-कृत्य हैं, भार-मुक्त हैं, सदर्थ-प्राप्त हैं, भव-बंधन परिक्षीण हैं, सम्यक रूप से लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त कर विमुक्त हैं, वे सबसे अग्र कहलाते हैं।

धम्मेनेव नो अधम्मेन। (दी० नि० ३.११६, अग्गञ्ञसुत्त)

- वे धर्म के कारण ही अग्र हैं, न कि अधर्म के कारण।

कोशल-नरेश प्रसेनजित

शाक्य जनपद कोशल-नरेश प्रसेनजित के अधीन था। अतः सभी शाक्य अपने शासक प्रसेनजित को अभिवादन करते थे; हाथ जोड़ कर सम्मान-सत्कार करते थे; प्रणाम करते थे। प्रसेनजित जानता था कि श्रमण गौतम शाक्य-कुल से प्रव्रजित हुए हैं, परंतु फिर भी भगवान उसे नमस्कार नहीं करते थे। वही भगवान को अपूर्व आदरपूर्वक नमस्कार करता था -

भगवतो पादेसु सिरसा निपतित्वा - भगवान के चरणों में सिर झुका कर,

भगवतो पादानि मुखेन च परिचुम्बति - भगवान के चरणों को वह मुँह से चूमने लगा,

पाणीहि च परिसम्बाहति - हाथों से दबाने लगा,

नामञ्च सावेति - राजाहं, भन्ते, पसेनदि कोसलो।

(म० नि० २.३६६, धम्मचेतियसुत्त)

- और अपना नाम सुनाते हुए कहने लगा - भंते, मैं कोशलेश प्रसेनजित हूं।

इस प्रकार का सम्मान कोई शाक्य प्रसेनजित के प्रति भी नहीं प्रकट करता था, जैसा कि प्रसेनजित, शाक्य-श्रमण भगवान बुद्ध के प्रति प्रकट करता था। इस प्रकार सम्मान करते हुए प्रसेनजित से भगवान ने एक बार पूछा -

किं पन त्वं, महाराज, अत्थवसं सम्पस्समानो इमस्मिं सरीरे एवरूपं परमनिपच्चकारं करोसि, मित्तूपहारं उपदंसेसि?

- महाराज, क्या बात देख कर इस शरीर के प्रति इतना गौरव प्रकट कर रहे हो? ऐसा विचित्र सम्मान प्रकट कर रहे हो जो कि मित्रता का प्रतीक है?

इस पर प्रसेनजित ने उत्तर दिया -

अत्थि खो मे, भन्ते, भगवति धम्मन्वयो। (म० नि० २.३६७, धम्मचेतियसुत्त)

- भंते, भगवान में मेरा धर्मअन्वय है। धर्म के कारण मैं भगवान का अनुगामी हूं।

मुझे भगवान में समन्वित धर्म दीखता है। भगवान से मेरा धर्म का संबंध है।

पूजन धर्म का है, धर्मकाया का है, रूपकाया का नहीं। यह आदर-सत्कार इसलिए नहीं है कि-

पासादिको समणो गोतमो, दुब्बण्णोहमस्मि - श्रमण गौतम की काया सुंदर है और मेरी असुंदर,

इसलिए भी नहीं कि-

सुजातो समणो गोतमो, दुज्जातोहमस्मि - श्रमण गौतम ऊंची जाति के हैं और मैं नीची जाति का,

इसलिए भी नहीं कि-

बलवा समणो गोतमो, दुब्बलोहमस्मि - श्रमण गौतम बलवान है और मैं बलहीन,

इसलिए भी नहीं कि-

महेसक्खो समणो गोतमो, अप्पेसक्खोहमस्मि,

- श्रमण गौतम महाप्रतापी हैं और मैं कम प्रतापी हूं।

अथ खो नं धम्मंयेव सक्करोन्तो - (बल्कि) धर्म का ही सत्कार करते हुए,

धम्मं गरुं करोन्तो - धर्म का गुरुकार करते हुए,

धम्मं मानेन्तो - धर्म का सम्मान करते हुए,

धम्मं पूजेन्तो - धर्म का पूजन करते हुए,

धम्मं अपचायमानो - धर्म का अभिवादन करते हुए,

तथागते निपच्चकारं करोति - (वह) तथागत को नमन करता है।

इसलिए यही समझना चाहिए कि-

धम्मोव सेट्ठो जनेतस्मिं - लोगों में धर्म ही श्रेष्ठ है।

(सं० नि० ३.११०, अग्गञ्ञसुत्त)

इसलिए धर्म ही पूज्य है, धर्मकाया ही पूज्य है।

उदायी

एक बार भगवान सुंभ प्रदेश के सेतक नामक निगम में विहार कर रहे थे। वहां आयुष्मान उदायी भगवान के समीप आकर बोला-

अच्छरियं भन्ते, अब्भुतं भन्ते - आश्चर्य है भंते, अद्भुत है भंते,

याव बहुकतञ्च मे, भन्ते, भगवति पेमञ्च गारवो च हिरी च ओत्तप्पञ्च।

- मुझे भगवान के प्रति अत्यंत प्रेम है; गौरव-भाव है; लज्जा है; संकोच है।

अहं हि, भन्ते, पुब्बे अगारिकभूतो समानो अबहुकतो अहोसिं धम्मेन, अबहुकतो सङ्घेन।

(सं० नि० ३.५.२११, उदायिसुत्त)

- भंते, पूर्वकाल में गृहस्थ रहते हुए मुझे धर्म के प्रति बहुत गौरव सम्मान नहीं था, न ही संघ के प्रति।

अवश्य ही उदायी भगवान की रूपकाया से आकर्षित होकर उनके प्रति भक्तिमान हुआ होगा, परंतु जब अनागारिक होकर भगवान के बताये धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो लाभान्वित हुआ, तो धर्म और संघ के प्रति भी श्रद्धावान हुआ। जब कोई स्वयं धर्म धारण करता है, तभी उसके मन में धर्म के प्रति सही गौरव-भाव जागता है, तभी धर्म धारण करने वाले संघ के प्रति श्रद्धाभाव जागता है, तभी **धम्मकायो, धम्मभूतो** बुद्ध के प्रति सही माने में पूज्यभाव जागता है।

इसे समझने के लिए एक और प्रसंग देखें-

बुद्ध की सही पूजा

महापरिनिर्वाण का समय समीप आ रहा था। भगवान के पूजन, सम्मान में सुरभित पुष्पों और चंदनचूर्ण की वर्षा हो रही थी। यह देख कर भगवान ने कहा-

न खो, आनन्द, एत्तावता तथागतो सक्कतो वा होति, गरुकतो वा मानितो वा, पूजितो वा, अपचितो वा।

– आनंद, वस्तुतः तथागत इस प्रकार न सत्कृत होते हैं, न गुरुकृत होते हैं, न मानित होते हैं, न पूजित, न आदृत।

तो तथागत की सही पूजा किस प्रकार होती है, उसे समझाते हुए कहा –

यो खो, आनन्द, भिक्खु वा भिक्खुनी वा उपासको वा उपासिका वा धम्मानुधम्मपटिपन्नो विहरति सामीचिप्पटिपन्नो अनुधम्मचारी, सो तथागतं सक्करोति गरुं करोति मानेति पूजेति अपचियति परमाय पूजाय।... एवञ्हि वो, आनन्द, सिक्खितब्बं। (दी० नि० २.१९९, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, जो भिक्षु या भिक्षुणी, उपासक या उपासिका धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो विहार करता है, सम्यक मार्ग पर आरूढ़ हो विहार करता है; धर्मानुकूल आचरण करता है, यही असली पूजा है और इसी परम पूजा से तथागत सत्कृत, गुरुकृत, मानित, पूजित, आदृत होते हैं।... आनंद, तुम्हें यही सीखना चाहिए।

इसी कारण यह स्वस्थ परंपरा चल पड़ी कि –

इमाय धम्मानुधम्मपटिपत्तिया बुद्धं पूजेमि।

– यों धर्मानुधर्म का पालन कर मैं बुद्ध की पूजा करता हूं।

कैसे कोई **धम्मानुधम्मपटिपन्नो** होता है?

रूपस्स चे, ... वेदनाय चे, ... सञ्ञाय चे, ... सङ्खारानं चे, ... विञ्ञाणस्स चे, भिक्खु, निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति,

– भिक्षु, जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान – इन पांच स्कंधों के निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है,

धम्मानुधम्मपटिपन्नो भिक्खूति अलं वचनाय।

(सं० नि० २.३.११५, धम्मकथिकसुत्त)

– वही सही माने में धर्मानुधर्म प्रतिपन्न भिक्षु कहलाने योग्य है।

धर्मानुधर्म प्रतिपन्न वह होता है, जो धर्म की स्थूल अवस्थाओं से सूक्ष्म की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ चरम मुक्त अवस्था तक जा पहुँचता है।

बुद्ध के धर्मकाय की यही सही पूजा है, यही सही वंदना है। इसलिए बुद्ध की शरण ग्रहण करने वाला सही साधक बुद्ध के आदेशानुसार अन्य किसी की शरण ग्रहण नहीं करता। अपने आप की शरण ग्रहण करता है, धर्म की शरण ग्रहण करता है। सही शरण के लिए अपने आपको द्वीप बनाता है, धर्म को द्वीप बनाता है।

तस्मातिहानन्द, अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा।

– इसलिए हे आनंद, आत्मद्वीप होकर विहार करो, आत्मशरण होकर; न कि अन्य किसी की शरण ग्रहण कर।

तूफान में डगमगाती हुई नौका को अपने बचाव के लिए कोई द्वीप चाहिए। भवसागर में डगमगाती हुई जीवन नैया के लिए सुरक्षाप्रदायक द्वीप अपने भीतर है, बाहर नहीं। उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

धम्मदीपा धम्मसरणा अनञ्ञसरणा। (दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– धर्मद्वीप होकर विहार करो, धर्मशरण होकर; न कि अन्य किसी की शरण ग्रहण कर।

वास्तविक शरण तो धर्म की है। धर्म भी वह जो अपने भीतर जागे। अपने भीतर जागा हुआ धर्म हमें सही माने में शरण देता है, संरक्षण देता है। अपने भीतर जागे हुए धर्म का दर्शन, यानी धर्मानुपश्यना ही हमें बुद्ध का दर्शन कराती है, बुद्ध की धर्मकाया का दर्शन कराती है। भगवान की यह वाणी इसी से स्पष्ट समझ में आती है।

यो खो, वक्कलि, धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति।

(सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है।

अपने भीतर धर्म का दर्शन करते हुए साधक जब पंच-स्कंधों के समुदय-धर्म स्वभाव को और व्यय-धर्म स्वभाव को देखता है, यानी अनुभव करता है, तो विपश्यना के ऊंचे धरातल पर धर्म की यह अनित्य-बोधिनी तरंगें भगवान की धर्मतरंगों से समरस हो जाती हैं। अथवा साधक जब पांच स्कंधों के परे इंद्रियातीत अमृत निर्वाण का साक्षात्कार करता है, तो भगवान की निर्वाण धातु से स्वतः समरस हो जाता है। यों धर्म के दर्शन करते हुए बुद्ध के दर्शन करता है, बुद्ध की धर्मकाया के दर्शन करता है।

इस संदर्भ में एक प्रसंग ध्यान देने योग्य है जो भगवान के किसी पूर्व जीवन का है –

तब वे बोधिसत्त्व के रूप में लोक कल्याण करने में लगे थे, अपनी पारमिताओं को परिपूर्ण करते हुए शरभंग नाम के बोधिसत्त्व का जीवन जी रहे थे। उस समय उन्होंने अट्ठक, कलिंग नरेश उग्रतेज और भीमरथ को धर्मदेशना दी थी। यह देशना सुनते-सुनते तीनों राजाओं के मन में तीव्र धर्मसंवेग जागा और तीनों के चित्त से काम-भोग के प्रति आसक्ति तत्काल समाप्त हो गयी। यह देख कर परचित्त ज्ञान की सिद्धि प्राप्त बोधिसत्त्व शरभंग ने प्रसन्न होकर कहा –

महत्तियं आगमनं अहोसि, तवमट्ठका भीमरथस्स चापि।
कालिङ्गराजस्स च उग्गतस्स, सब्बेस वो कामरागो पहीनो॥

(जा० २.१७.८६, सरभङ्गजातक)

– बड़ी बात हुई जो तुम्हारी, भीमरथ की और कलिंग नरेश उग्रतेज की, सभी की कामभोगों के प्रति आसक्ति समाप्त हो गयी।

यह सुन कर तीनों राजाओं को आश्चर्य हुआ। बोधिसत्त्व ने तीनों के वर्तमान चित्त की अवस्था कैसे जान ली? उन्होंने प्रार्थना की कि हमें भी अवकाश दें कि हम भी आपकी गति को प्राप्त हों। तब बोधिसत्त्व ने कहा –

करोमि ओकासमनुग्गहाय, तथा हि वो कामरागो पहीनो।
फराथ कायं विपुलाय पीतिया, यथा गतिं मे अभिसम्भवेथ॥

(जा० २.१७.८८, सरभङ्गजातक)

– तुम्हारी कामभोग संबंधी आसक्ति तात्कालिक रूप से छूट गयी है, इसलिए मैं अनुग्रह करके तुम्हें प्रव्रज्या के लिए अवकाश देता हूं। तुम सारे शरीर में विपुल प्रीति स्फुरित करो और उस स्फुरणा से आप्लावित हो जाओ जिससे कि मेरी अवस्था का अनुभव कर सको।

विपश्यना साधना द्वारा ही सारे शरीर में स्फुरणा जागती है, मानो नन्हीं-नन्हीं तरंगों की धारा प्रवाहित हो रही हो। ऐसी अवस्था की स्वयं अनुभूति करने पर ही साधक अपने आचार्य की उस अवस्था से समरस हो सकता है, जिस अवस्था में आचार्य भी ऐसी ही स्फुरणा की अनुभूति कर

रहा होता है। यही साधक द्वारा अपने आचार्य का धर्ममय दर्शन है। इसी को लक्ष्य करके भगवान कहते हैं –

यो खो, वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति; यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति।

(सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है। जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।

यह भगवान की धर्मकाया का दर्शन है, जो कि देह-काया के दर्शन से सर्वथा भिन्न है। साधना के ऊंचे धरातल पर धर्मकाया का यह दर्शन ही साधक के लिए कल्याणकारी है। केवल भौतिक काया यानी रूपकाया का दर्शन बाहरी आकर्षण का प्रतीकमात्र है।

रूपकाया और धर्मकाया का भेद

एक घटना –

एक समय भगवान उक्कट्ठा और सेतव्य के बीच चारिका कर रहे थे। सदा की भांति नंगे पांव चल रहे थे। जिस जमीन पर चल रहे थे, वह समतल थी और नरम थी। भगवान की दोनों पगथलियां भी समतल थीं। उन पर नाभि और नेमि सहित सहस्र आरों वाले चक्र अंकित थे। नरम धरती पर उनकी स्पष्ट छाप पड़ रही थी। द्रोण नामक एक ब्राह्मण पदचाप की यह छाप देख कर अत्यंत विस्मय-विभोर हो उठा।

अरे, आश्चर्य है, अद्भुत है! निश्चय ही यह किसी मनुष्य के पांव नहीं हो सकते। देखूं, इन पदचिह्नों वाला व्यक्ति कौन है। इस जिज्ञासा को लिए हुए वह इन चरण-चिह्नों के सहारे वहां तक पहुँच गया, जहां भगवान एक वृक्ष के तले ध्यानमग्न बैठे थे। वह भगवान की ओर निर्निमेष देखने लगा। ऐसे शरीर लक्षणों वाला व्यक्ति उसने पहले कभी नहीं देखा था। सचमुच यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं होगा। अतः कौतूहल-वश उसने भगवान से पूछा –

देवो नो भवं भविस्सति – आप देवता तो नहीं हैं?

न खो अहं, ब्राह्मण, देवो भविस्सामि - ब्राह्मण, मैं देवता नहीं हूं।
गन्धब्बो नो भवं भविस्सति - आप गंधर्व तो नहीं हैं?
न खो अहं, ब्राह्मण, गन्धब्बो भविस्सामि - ब्राह्मण, मैं गंधर्व नहीं हूं।
यक्खो नो भवं भविस्सति - आप यक्ष तो नहीं हैं?
न खो अहं, ब्राह्मण, यक्खो भविस्सामि - ब्राह्मण, मैं यक्ष नहीं हूं।
मनुस्सो नो भवं भविस्सति - आप मनुष्य तो नहीं हैं?
न खो अहं, ब्राह्मण, मनुस्सो भविस्सामि - ब्राह्मण, मैं मनुष्य नहीं हूं।

- "देवता भी नहीं, गंधर्व भी नहीं, यक्ष भी नहीं, मनुष्य भी नहीं, तो आप कौन हैं?"

भगवान ने उत्तर दिया -

बुद्धोति मं, ब्राह्मण, धारेहि - ब्राह्मण, मुझे बुद्ध समझ।

भगवान ने ठीक उत्तर दिया। समस्त भव प्रपंच में सबसे अग्र होने के कारण जो भवाग्र कहलाते हैं, उन अरूप ब्रह्मलोकों के ब्रह्माओं से लेकर देव मनुष्य सहित अधोलोक तक के सारे प्राणी मर्त्य हैं, सभी भवचक्र में पिस रहे हैं, जबकि सम्यक संबुद्ध भवचक्र से मुक्त हो चुके हैं। यह उनका आखिरी जन्म है।

नत्थिदानि पुनब्भवोति, (सं० नि० ३.५.४९८, सम्बुद्धसुत्त)

- इसके बाद और कोई जन्म नहीं होगा।

ऐसे मुक्त व्यक्ति का अपने आपको इन मरणधर्मा देव, गंधर्व, यक्ष, ब्रह्मा या मनुष्य के नाम से नहीं पुकारना समीचीन ही है। बुद्ध मुक्त हैं, इसलिए अनोखे हैं; औरों से भिन्न हैं। औरों की भांति वे संसार में लिप्त नहीं हैं।

पुण्डरीकं यथा वग्गु, तोयेन नुपलिप्पति।
नुपलिप्पामि लोकेन, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणा॥

(अ० नि० १.४.३६, दोणसुत्त)

- जैसे सुंदर कमल जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही मैं भी लोक में लिप्त नहीं होता; इसीलिए, हे ब्राह्मण, मैं बुद्ध हूं।

चक्रवर्ती सम्राट से भिन्न

सहस्र आरों वाले चक्र का चिह्न किसी चक्रवर्ती सम्राट की समतल पगथली पर भी होता है। इस चिह्न का वैसा ही ठप्पा जमीन पर पड़ा देख कर कोई व्यक्ति वैसे ही विस्मय-विभोर होकर उससे पूछ सकता है कि तुम कौन हो। तो वह कैसे कहे कि मैं मनुष्य भी नहीं हूं, क्योंकि वह मर्त्य तो है ही। भवचक्र में पड़ा हुआ तो है ही।

बुद्ध की यही विशेषता है। बोधिवृक्ष के तले बोधिसत्त्व की रूपकाया में जब बोधि-काया यानी धर्मकाया उद्‌बुद्ध हुई, तब बोधिसत्त्व सम्यक संबुद्ध बन गये। यही उनका धर्मभूत बन जाना है। इसी कारण वे सामान्य प्राणियों से कहीं ऊंचे होते हैं, श्रेष्ठ होते हैं, भिन्न होते हैं। यह सब बुद्ध-गुणों के कारण ही होते हैं। बुद्ध-गुण ही बुद्ध की धर्मकाया है। बुद्धगुणों का दर्शन ही बुद्धदर्शन है। बुद्धदर्शन ही धर्मदर्शन है।

क्या हैं बुद्ध गुण?

बुद्ध गुण अनेक होते हैं, परंतु उनमें से नौ प्रमुख हैं जिनके कारण बुद्ध विश्व-विख्यात हुए। मानव इतिहास में ऐसे लोग गिनती के ही होंगे जो अपने जीवनकाल में इतने जनप्रसिद्ध हुए। भगवान बुद्ध की ख्याति उनके जीवनकाल में ही इस कदर फैली कि उन्हें बिना देखे, मात्र उनकी ख्याति सुन कर ही अनेक लोग उनकी ओर आकर्षित हो गये। यहां तक कि विरोधी भी उनके प्रति आकर्षित हुए और उनमें से अनेक उनके अनुयायी बन गये।

ख्याति तो उन दिनों के अन्य कई आचार्यों की भी फैली थी, परंतु उनकी ख्याति की विरुदावली बुद्ध-ख्याति से भिन्न थी। उन सबकी विख्यात विरुदावली इस प्रकार थी, जैसे कि -

अयं, देव, मक्खलि गोसालो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यससी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयोअनुप्पत्तो। (दी० नि० १.१५२, सामञ्ञफलसुत्त)

– महाराज, यह मक्खलि घोषाल संघपति है, गणपति है, गणाचार्य है, प्रसिद्ध है, यशस्वी है, तीर्थंकर है, बहुत जनों द्वारा भली प्रकार सम्मानित है, चिरकाल का अनुभवी है, चिरकाल से प्रव्रजित है। जीवन-पथ का ऐसा पथिक है जो बहुत चल चुका वयोवृद्ध है।

जिसने भगवान के वास्तविक गुणों के बारे में सही और पूरी जानकारी नहीं प्राप्त की थी, ऐसा कोई इक्का-दुक्का सभिय जैसा परिव्राजक अपनी गलत और अधूरी जानकारी के कारण भगवान के बारे में ऐसा चिंतन भले कर ले कि –

अयम्पि खो समणो गोतमो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यससी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स...।

– यह श्रमण गौतम भी संघपति है, गणपति है, गणाचार्य है, प्रसिद्ध है, यशस्वी है, तीर्थंकर है, बहुजनों द्वारा भली-प्रकार सम्मानित है।

जो जानकार थे वे इन गुणों के आधार पर भगवान बुद्ध का मूल्यांकन नहीं करते थे। परंतु सभिय अनजान है। अतः वह इन-इन बातों में भगवान बुद्ध के गुणों को अन्य आचार्यों की विरुदावली से जोड़ता है, परंतु देखता है कि श्रमण गौतम उनसे उम्र में बहुत छोटे हैं। अन्य आचार्य जीर्ण, वृद्ध, बूढ़े, पकी उम्र के वयःप्राप्त हैं –

जिण्णा वुड्ढा महल्लका अद्धगता वयोअनुप्पत्ता।

जबकि –

समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया, नवो च पब्बज्जाय।

– श्रमण गौतम (उनकी तुलना में) उम्र में छोटे हैं और प्रव्रज्या में नये हैं।

वे मेरे प्रश्नों का उत्तर क्या दे सकेंगे? जबकि अन्यान्य वयोवृद्ध, अनुभवी आचार्य न दे सके। लेकिन फिर उसके मन में आता है –

दहरोपि चेस समणो गोतमो महिद्धिको होति महानुभावो।

(सु० नि० सभियसुत्त)

– कोई-कोई युवक श्रमण भी बहुत ऋ[illegible] और महाप्रतापी होते हैं।

अतः क्यों न उनसे प्रश्न पूछ कर देखूं? परिव्राजक सभिय की नजरों में भगवान बुद्ध का गणी, यशस्वी आदि होना महत्त्वपूर्ण था। परंतु उम्र और अनुभव में छोटा होना, उनकी कमी थी। वह इसी उधेड़बुन में रहा। बुद्ध के वास्तविक गुणों के बारे में उसने कहीं नहीं सुना था। इन गुणों का ज्ञान उसे भगवान से मिलने पर हुआ। भगवान के संपर्क में नहीं आता तो वह इसी भ्रम में रह जाता कि वे भी अन्य आचार्यों की भांति गणी और यशस्वी आदि ही हैं। वह जान ही नहीं पाता कि बुद्ध के वास्तविक गुण इन सामान्य गुणों से कितने महान हैं।

भगवान की उम्र में छोटे होने की कमी कोशल-नरेश प्रसेनजित को भी खटकी थी। अतः भगवान से भेंट होने पर उसने अपनी स्पष्टवादिता का परिचय देते हुए कहा –

ये श्रमण-ब्राह्मण संघी हैं, गणी हैं, गणाचार्य हैं, प्रसिद्ध यशस्वी हैं, तीर्थंकर हैं, बहुतों द्वारा पूज्य हैं, दीर्घायु हैं। परंतु केवल इन विशेषताओं के होने मात्र से कोई सम्यक संबोधि प्राप्त नहीं कर लेता। अतः उनसे –

तेपि मया अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति पटिजानाथाति पुट्ठा समाना।

– यह पूछने पर कि क्या आपको अनुत्तर सम्यक संबोधि का ज्ञान प्राप्त हो गया है तो वे ऐसा उत्तर देते हैं –

अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति न पटिजानन्ति।

– अनुत्तर सम्यक संबोधि का ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ –

तो फिर –

किं पन भवं गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जाय।

(सं० नि० १.१.११२, दहरसुत्त)

– आप गौतम उम्र में युवा हैं, प्रव्रज्या में नये हैं, आप यह दावा कैसे करते हैं?

अनेक वर्षों के निकट संपर्क के बाद प्रसेनजित का यह संदेह मिटा जब उसने विविध घटनाओं द्वारा भगवान के वास्तविक गुणों को जाना और परखा। तभी अपनी पकी हुई उम्र में भगवान से धर्म संबंध स्थापित कर उनकी वंदना करते हुए बोला –

सम्मासम्बुद्धो भगवा - भगवान सम्यक संबुद्ध हैं,
स्वाक्खातो भगवता धम्मो - सुआख्यात है भगवान का धर्म,
सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो - सुप्रतिपन्न है भगवान का श्रावक संघ।

किसी भी शास्ता को यानी आचार्य को मापने के लिए यही तीन मापदंड हैं -

(१) शास्ता स्वयं कैसा है? जो सिखाता है, क्या उसने उसे स्वयं अनुभव किया है?

(२) उसका सिखाया धर्म कैसा है? क्या वह स्पष्ट है, जिसे कोई भी समझ सके और धारण कर लाभान्वित हो सके अथवा अंधविश्वास जगा कर सांप्रदायिक मत-मतांतरों की काल्पनिक मान्यताओं में उलझा देने वाला है?

(३) उसके शिष्य कैसे हैं? क्या उसकी शिक्षा का यथार्थ पालन करने वाले हैं या सांप्रदायिक ठग-विद्या द्वारा लोगों का शोषण करने वाले हैं?

इन तीनों का उत्तर हमें तिपिटक में विस्तार से मिलेगा। अभी तो उनकी एक-एक झलक मात्र ही देख पायेंगे।

आओ, पहले भगवान के उन नौ गुणों पर एक विहंगम दृष्टि डालें जिनके कारण वे **धम्मकायो, धम्मभूतो, ब्रह्मकायो, ब्रह्मभूतो** बने; **चक्खुभूतो, ञाणभूतो** बने।

उनके ये नौ प्रमुख गुण उनके जीवनकाल में ही जन-प्रसिद्ध हुए और इन्हीं के कारण भगवान बुद्ध विश्व-विश्रुत हुए। वे नौ गुण थे -

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।

आओ, कल्याणी भगवद्-वाणी के निश्रय-प्रश्रय द्वारा इन बुद्धगुणों की विरुदावली का निरीक्षण-परीक्षण करते हुए इनकी कुछ एक मोनरम झांकियां देखें।

इतिपि सो भगवा अरहं

ये भगवान ऐसे 'अरहंत' भी हैं।

किस माने में अरहंत हैं?

अरि माने दुश्मन। हंत माने हनन करने वाला। अतः अरहंत या अरिहंत (अर्हत) का अर्थ हुआ – वह जिसने अपने दुश्मनों का हनन कर दिया, यानी उन्हें खत्म कर दिया। दुश्मन कौन? कोई बाहरी व्यक्ति किसी का दुश्मन नहीं हुआ करता। असली दुश्मन तो भीतर छिपे रहते हैं। सही माने में भीतर के मनोविकार ही व्यक्ति के वास्तविक दुश्मन हैं। अतः जिसने अपने भीतर के सारे मनोविकारों को नष्ट कर दिया, वही सचमुच अरहंत है। भगवान बुद्ध ऐसे ही अरहंत थे। सभी विकारों को जन्म और प्रश्रय देने वाला प्रमुख विकार है – मोह। मोह यानी अज्ञान, अविद्या। होश नहीं रहता, तभी अन्य विकार जगते हैं। हर विकार कष्टदायक होता है, क्लेशदायक होता है। होश में हो तो कोई क्यों अपने आप को कष्ट दे? क्यों अपने लिए क्लेश पैदा करे? जब बोधि जागती है, तब होश जागता है – भीतर का होश। तभी अज्ञान का अंधेरा दूर होता है। अंधेरे में जन्मने और पनपने वाले विकार स्वतः दूर हो जाते हैं। मोह के अंधेरे में जन्मने और पनपने वाले विकारों में प्रमुख हैं – राग और द्वेष। अन्य सारे विकार इन्हीं की संतान हैं। अतः जिसने राग, द्वेष और मोह को नष्ट कर दिया, उन्हें जड़ से उखाड़ दिया, वह सभी विकारों से विमुक्त हो गया। बुद्ध ऐसे ही विकार-विमुक्त अरहंत थे।

यो खो, आवुसो, रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – इदं वुच्चति अरहत्तं।

(सं० नि० २.४.३१५, अरहत्तपञ्हासुत्त)

– आयुष्मान, यह जो रागक्षय, द्वेषक्षय, मोहक्षय है इसे ही अरहत्व कहते हैं।

भीतर विकारों की जटाएं उलझी रहती हैं, जिनसे लोग त्रस्त रहते हैं। अविद्या का अंधकार मिटने पर और राग-द्वेष के विकार दूर होने पर अन्य आस्रव यानी मैल भी दूर हो जाते हैं। जब भीतर की सारी जटाएं खत्म हो जाती हैं, तब नितांत निर्मल हो जाता है; सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है।

येसं रागो च दोसो च, अविज्जा च विराजिता।
खीणासवा अरहन्तो, तेसं विजटिता जटा॥

(सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– जिसके राग-द्वेष दूर हो गये और अविद्या दूर हो गयी, वह क्षीणास्रव हुआ अरहंत भीतर की जटाओं से मुक्त हो गया।

अविद्या नहीं रहेगी, तो राग नहीं रहेगा। राग नहीं रहेगा, तो द्वेष नहीं रहेगा। अरहंत होगा, तो द्वेष से दूर ही होगा। द्वेष से दूर होगा, तो राग से, अविद्या से और तज्जनित अन्य सभी दोषों से स्वतः दूर रहेगा। तभी कहा गया –

सो ततो आरका नाम, यस्स येनासमङ्गिता।
असमङ्गी च दोसेहि, नाथो तेनारहं मतो॥

(विसुद्धि० १.१२५, बुद्धानुस्सतिकथा)

– (आरका कहते हैं दूर रहने को, अतः) जो दोषों से अर्थात द्वेषों से दूर रहते हैं, वे नाथ यानी भगवान बुद्ध 'अरहंत' कहलाते हैं।

आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा, सङ्किलेसिका पोनोब्भविका, सदरा दुक्खविपाका, आयतिं जातिजरामरणिया। एवं खो, भिक्खवे, भिक्खु अरहं होति।

(म० नि० १.४३४, महाअस्सपुरसुत्त)

– उसके क्लेशकारी, पुनर्जन्मदायी, भयावह दुःखविपाक वाले, भविष्य में जन्म-जरा-मृत्यु प्रदायक पापमय अकुशल धर्म दूर हो गये हैं। इस प्रकार, भिक्षुओ, भिक्षु अरहंत होता है। ऐसा व्यक्ति निर्मल निर्लिप्त होता है।

अनेजं ते अनुप्पत्ता, चित्तं तेसं अनाविलं।
लोके अनुपलित्ता ते, ब्रह्मभूता अनासवा॥

(सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– जिन्होंने अचल निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर ली, जिनका चित्त नितांत निर्मल हो गया, जो संसार के प्रति सर्वथा निर्लिप्त हैं, जो अनास्रव हैं, वे **ब्रह्मभूत** हैं, **धर्मभूत** हैं, श्रेष्ठताप्राप्त हैं।

वे ही 'अरहंत' हैं। ऐसे व्यक्तियों ने सचमुच अपने दुश्मनों का नाश कर दिया है। अपने भीतर प्रत्यक्ष ज्ञान वाली प्रज्ञा जगा कर, इसी प्रज्ञा के शस्त्र से रागादि दुश्मनों का हनन कर दिया है।

यस्मा रागादिसङ्घाता, सब्बेपि अरयो हता।
पञ्ञासत्थेन नाथेन, तस्मापि अरहं मतो॥

(विसुद्धि० १.१२६, बुद्धानुस्सतिकथा)

– क्योंकि राग आदि के नाम से ज्ञात सभी वैरी नाथ (बुद्ध) द्वारा प्रज्ञा के शस्त्र से मार दिये गये हैं इसलिए भी वे अरहंत हैं।

ऐसे व्यक्ति के लिए ही यह कहा गया है और ठीक ही कहा गया है कि –

उपधी ते समतिक्कन्ता, आसवा ते पदालिता।
सीहोसि अनुपादानो, पहीनभयभेरवो॥

(सु० नि० ५५१, सभियसुत्त)

– आपने आसक्ति के क्षेत्र का भली प्रकार अतिक्रमण कर दिया है, आपने सभी आस्रवों को चीर फेंका है, आप उपादानरहित, निस्संग भय-भैरवमुक्त सिंह हैं।

ऐसा व्यक्ति ही सही माने में महावीर होता है, अरहंत होता है।

अनुविचरन्ति महावीरा, पहीनभयभेरवा।

(सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– भय-भैरव से मुक्त हो, महावीर (बुद्ध) विचरण करते हैं।

जिसने अपना सारा वैर खत्म कर दिया, वह निर्वैर हो गया। जो निर्वैर हो गया, वह निर्भय हो गया। जब निर्वैर और निर्भय हो गया, तो सुखी हो गया, पूर्णतया दुःख-विमुक्त हो गया।

वीतराग सुख से सोता है

सुखिनो वत अरहन्तो, तण्हा तेसं न विज्जति।

(सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

- सचमुच अरहंत सुखी होते हैं, क्योंकि उनमें तृष्णा यानी राग-द्वेष का नामोनिशान नहीं रहता।

उनमें न प्रिय को प्राप्त करने की रागरूपी तृष्णा रहती है, न अप्रिय को दूर करने की द्वेषरूपी तृष्णा रहती है।

एक बार भगवान आलवी राष्ट्र में गाँवों के आवागमन के मार्ग पर पेड़ से गिरे पत्तों का आसन बिछा कर सोये थे। उस समय हत्थक नामक आळवक राजपुत्र घूमने निकला। उसने भगवान को वहां देख कर पूछा-

कच्चि भन्ते, भगवा सुखमसयित्थाति - भंते, भगवान, क्या सुख से सोये?

भगवान ने उत्तर दिया-

एवं कुमार, सुखमसयित्थं - हाँ कुमार, मैं सुख से सोया।

और कहा-

ये च पन लोके सुखं सेन्ति, अहं तेसं अञ्ञतरोति।

- जो लोग इस संसार में सुख से सोते हैं, मैं उनमें से एक हूं।

इस पर आळवक ने कहा-

हेमंत ऋतु की ठंडी रात है। माघ और फाल्गुन के बीच का आठ दिनों का समय है। हिमपात का मौसम है। गाँवों के खुरों से खुरदरी हुई कठोर भूमि है। पत्तों का पतला बिछौना है। पेड़ों पर बहुत कम पत्ते हैं। चारों ओर से ठंडी हवाएं बह रही हैं और आप ने ठंडे कापाय वस्त्र पहने हैं। आप किस प्रकार सुख से सोये?

इस पर भगवान ने कहा-

एक गृही अथवा गृहीपुत्र पक्की बंद हवेली में, मुलायम गद्दे, तकिए और रजाई लेकर सोता है, परंतु हो सकता है, उसमें काम-राग की अग्नि जलती हो।

तस्स गहपतिस्स वा गहपतिपुत्तस्स वा उप्पज्जेय्युं रागजा परिळाहा कायिका वा चेतसिका वा, येहि सो रागजेहि परिळाहेहि परिडय्हमानो दुक्खं सयेय्याति।

- उस गृही अथवा गृही-पुत्र के भीतर रागजन्य दाह उत्पन्न होता है, कायिक अथवा मानसिक; तब वह उस रागजन्य दाह में जलता हुआ दुःख से ही सोता है।

सो रागो तथागतस्स पहीनो उच्छिन्नमूलो तालावत्थुकतो अनभावङ्कतो आयतिं अनुप्पादधम्मो। (अ० नि० १.३.३५, हत्थकसुत्त)

- तथागत का वह राग प्रहीण हो गया है, नष्ट हो गया है, जड़ से उखड़ गया है; सिर कटे ताड़ वृक्ष जैसा ठूंठ हो गया है, जिसमें अब कुछ नहीं उग सकता; अभाव को प्राप्त हो गया है, भविष्य में उसका उत्पाद हो नहीं सकता।

ऐसा वीतराग अरहंत सुख से ही सोयेगा।

एक अन्य अवसर-

अनाथपिंडिक राजगृह में पहली बार भगवान से मिलने गया। रात बीतने में अभी देर थी। भगवान खुले में चंक्रमण कर रहे थे।

इस पर उसने भगवान से पूछा-

कच्चि, भन्ते, भगवा सुखं सयित्थाति?

- भंते, भगवान क्या सुख से सोये?

इसका उत्तर देते हुए भगवान बोले-

सब्बदा वे सुखं सेति, ब्राह्मणो परिनिब्बुतो।
यो न लिम्पति कामेसु, सीतिभूतो निरूपधि॥

- जो अनासक्त हो गया, शीतलीभूत हो गया, कामराग में लिप्त नहीं होता, वह निर्वाण का परिपूर्ण साक्षात्कार करने वाला ब्राह्मण सदा सुख से सोता है।

सब्बा आसत्तियो छेत्वा, विनेय्य हृदये दरं।
उपसन्तो सुखं सेति, सन्ति पप्पुय्य चेतसा॥

(चूळव० ३०५, अनाथपिण्डिकवत्थु)

- सारी आसक्तियां नष्ट कर, हृदय से भय दूर कर, चित्त-शांति प्राप्त कर, वह सुख से सोता है।

मुक्त, अनासक्त, अरहंत सुख से ही सोता है।

प्रत्येक धर्मचारी सुख से सोता है - **धम्मचारी सुखं सेति,**

(ध० प० १६९, लोकवग्ग)

अरहंत का तो कहना ही क्या?

जिस किसी के निर्मल चित्त में धर्मानंद की तरंगें लहराने लगती हैं, वह सुख से ही सोता है -

धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा। (ध० प० ७९, पण्डितवग्ग)

अरहंत हुए बुद्ध का तो कहना ही क्या? वे तो **धम्मभूतो** हैं, **ब्रह्मभूतो** हैं, **सीतलीभूतो** हैं। वे तो **अप्पमाणो** हैं, अनंत हैं, असीम हैं। अहं के मोहजाल का सीमित क्षेत्र छोड़ चुके हैं -

अस्मिमानो समुच्छिन्नो, मोहजालं पदालितं।

(सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

- उनका अस्मिताभाव अर्थात अहं-भाव, आत्म-भाव पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया है, क्योंकि उन्होंने मोह-जाल तोड़-फोड़ डाला है।

यों अहं-मुक्त हुए, तो ही अरहंत हुए।

अहं वदामीतिपि सो वदेय्य, ममं वदन्तीतिपि सो वदेय्य।
लोके समञ्ञं कुसलो विदित्वा, वोहारमत्तेन सो वोहरेय्याति॥

(सं० नि० १.१.२५, अरहन्तसुत्त)

- जो अरहंत हो गए हैं वे 'अहं' और 'ममं' यानी 'मैं' और 'मेरा' जैसे शब्दों का प्रयोग तो करते हैं, परंतु वह मात्र लोक-व्यवहार के लिए होता है।

'अहं, ममं' से उन्हें कोई आसक्ति नहीं रहती। नितांत अनासक्त भाव से रहते हुए लोक में व्यवहार मात्र के लिए वे इन शब्दों का प्रयोग करते हैं, क्योंकि अब वे - **लोके अनुपलित्ता ते** (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त) - संसार से सर्वथा निर्लिप्त हैं, निस्संग हैं, निरासक्त हैं।

ऐसे निर्लिप्त, अरहंत, भगवान बुद्ध से मिल कर परिव्राजक सभिय कह उठा कि जैसे सुंदर, श्वेत पुंडरीक कमल पानी में अलिप्त रहता है,

एवं पुञ्ञे च पापे च, उभये त्वं न लिम्पसि।

(सु० नि० ५५२, सभियसुत्त)

- वैसे ही आप पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते।

तथागत अरहंत हैं। अरहंत हैं इसीलिए -

दसहि खो, वाहन, धम्मेहि तथागतो निस्सटो विसंयुत्तो विप्पमुत्तो विमरियादीकतेन चेतसा विहरति।

- हे वाहन, तथागत दस विषयों में निरासक्त, निस्संग, विमुक्त और निर्बाध चित्त से विहार करते हैं।

कतमेहि दसहि - किन दस विषयों में?

रूपेन खो, वाहन..., वेदनाय... सञ्ञाय... सङ्खारेहि... विञ्ञाणेन... जातिया... जराय... मरणेन... दुक्खेहि... किलेसेहि खो, वाहन, तथागतो निस्सटो विसंयुत्तो विप्पमुत्तो विमरियादीकतेन चेतसा विहरति।

(अ० नि० ३.१०.८१, वाहनसुत्त)

- हे वाहन, तथागत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, जाति, जरा, मरण, दुःख और क्लेश के प्रति निरासक्त, निस्संग, विमुक्त और निर्बाध चित्त से विहार करते हैं।

ऐसा निर्मल, निस्संग, निर्लिप्त व्यक्ति कोई गोपनीय काम कर ही नहीं सकता। वह चोरी-छुपे कोई पापमय दुष्कर्म कर ही नहीं सकता।

यस्मा नत्थि रहो नाम, पापकम्मेसु तादिनो।
रहाभावेन तेनेस, अरहं इति विस्सुतो॥

(विसुद्धि० १.१३०, बुद्धानुस्सतिकथा)

- ऐसे व्यक्ति को पाप-कर्म करके उसे छिपाने की नौबत नहीं आती। अतः वह अरहाभाव यानी अगोपनीय भाव का जीवन जीता है। इस अर्थ में वह अरहं कहलाता है।

जो दुष्कर्म करता ही नहीं, वह छिपायेगा क्या? जिसके मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों में विषमता नहीं है, ऐसा व्यक्ति खुला, स्पष्ट जीवन जीता है। जो सोचता कुछ है, कहता कुछ और है, करता कुछ और ही है, ऐसे सांसारिक व्यक्ति को बाहर-बाहर से धर्मी होने का ढोंग बनाये रखना पड़ता है जबकि गुप्त रूप से वह कुकर्मों में लीन रहता है। पर अरहंत ऐसा क्यों करेगा? वह तो बाहर-भीतर एक सा होता है। उसका जीवन स्वच्छ, स्पष्ट, पारदर्शी होता है। उसकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं होता। उसके जीवन को कोई देखे, कोई परखे, कोई जांचे। उसमें कोई दुराव नहीं होता, कोई छिपाव नहीं होता। इसलिए अरहंत 'अरहंत' होता है। तभी पूज्य होता है।-

पूजाविसेसं सह पच्चयेहि, यस्मा अयं अरहति लोकनाथो।
अत्थानुरूपं अरहन्ति लोके, तस्मा जिनो अरहति नाममेतं॥

(विसुद्धि० १.१२९, बुद्धानुस्सतिकथा)

- क्योंकि वह लोकनाथ भगवान बुद्ध प्रत्ययों के द्वारा विशेष रूप से पूजा करने योग्य हैं, इस अर्थ के अनुकूल भी वह जिन इस लोक में अरहंत कहलाने योग्य हैं।

अरहंत हैं, इसलिए जिन हैं। जिन हैं, इसलिए अरहंत हैं। इसी कारण पूजनीय हैं, वंदनीय हैं।

जिन हैं, माने विजेता हैं। किस माने में जिन हैं?

दन्तभूमिमनुप्पत्ता, ते लोके विजिताविनो।

(सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

- उन्होंने रागादि दमन कर निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर ली है। इसलिए वे संसार में जिन हैं।

उपक ने जब भगवान की उपलब्धि पर शंका प्रकट करते हुए व्यंग्य भरे शब्दों में कहा कि-

यथा खो त्वं, आवुसो, पटिजानासि अरहसि अनन्तजिनो।

- आयुष्मान, तू जैसा दावा करता है, उससे तो मानो तू अनंत जिन है।

उत्तर में भगवान ने कहा-

मादिसा वे जिना होन्ति, ये पत्ता आसवक्खयं।
जिता मे पापका धम्मा, तस्माहमुपक जिनो।

(महाव० ११, पञ्चवग्गियकथा)

- मुझ जैसे व्यक्ति ही जिन होते हैं, जिन्होंने आस्रवक्षय अवस्था प्राप्त कर ली है। मैंने पापों को जीत लिया है। इसलिए, हे उपक, मैं जिन हूं।

कैसे जिन हैं?

बोधि-वृक्ष के तले देव-पुत्र मृत्युराज मार को जीत कर भगवान जिन हुए। अतः यह ठीक ही कहा गया-

जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं, मारस्स च पापिमतो पराजयो।

(उग्गोसनगाथा)

- यह देखो, श्रीमंत बुद्ध की विजय हो गयी। पापी मार की पराजय हो गयी।

परंतु यह विजय कोई सांसारिक शस्त्र धारण करके नहीं हुई। धर्म के अनुपम शस्त्र से हुई।

दानादि-धम्मविधिना जितवा मुनिन्दो। (धम्मगीतं - जयमङ्गल अट्ठगाथा १)

- मुनींद्र भगवान बुद्ध ने (अपने अनेक पूर्व जन्मों में) दान आदि पारमिताओं का बल संचित किया था, जिससे मार को जीत लिया।

यह धर्ममय जीत अपने भीतर उपलब्ध करनी होती है। बाहर की रणभूमि में जीतने वाला सही माने में जिन नहीं होता है –

यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकञ्च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥

(ध० प० १०३, सहस्सवग्ग)

– जो सहस्र बार सहस्रों को संग्राम में जीत ले, उससे कहीं उत्तम विजयी वह है जो स्वयं अपने को जीत ले।

बुद्ध जिन होते हैं, वे अपने आप को जीतते हैं, अपने मन के विकारों को जीतते हैं। यही जीतना श्रेष्ठ है।

अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो॥
नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥

(ध० प० १०४-१०५, सहस्सवग्ग)

– इन अन्य प्रजाओं को जीतने की अपेक्षा अपने आप को जीतना श्रेष्ठ है। नित्य, संयत जीवन जीने वाले, आत्मदमन करने वाले व्यक्ति की जीत को न देवता, न गंधर्व, न ब्रह्मा सहित मार ही हार में पलट सकता है।

ऐसे आत्मविजेता ही अरहंत कहलाते हैं।

भवचक्र भंजन

यह ऐसी जीत है, जिसे प्राप्त कर अरहंत मृत्युराज मार के क्षेत्र से बाहर निकल गये हैं, उनका भव-भ्रमण टूट गया है। उनका,

पहीनजातिमरणं असेसं – निःशेष रूप से जन्म-मरण नष्ट हो गया है।

(सु० नि० ३५३, निग्रोधकप्पसुत्त)

अरहंत का यह अंतिम जन्म होता है और इस जन्म की मृत्यु अंतिम मृत्यु होती है। फिर न जन्म होता है, न मृत्यु।

बुद्धो अन्तिमसारीरो – बुद्ध अंतिम शरीर धारण करने वाले होते हैं।

(अ० नि० १.४.३५, वस्सकारसुत्त)

अरहंत हुए बुद्ध की यही बोधि होती है कि वे जन्म-मरण के भवचक्र को अनुभूति के स्तर पर जान लेते हैं। इस भवचक्र के सही कारण को जान लेते हैं और इस कारण को दूर कर, भवचक्र का ध्वंस करते हुए मुक्त हो जाते हैं।

गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि। (ध० प० १५४, जरावग्ग)

– हे घर बनाने वाले! तू देख लिया गया। अब तुम घर नहीं बना सकोगे।

कौन है यह घर बनाने वाला जिसका दर्शन कर अरहंत हुए बुद्ध मुक्त हो गये हैं?

न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा, संसारस्सत्थिकारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, हेतुसम्भारपच्चयाति॥

(विसुद्धि० २.६८९, पच्चयपरिग्गहकथा)

– संसार का सृजन करने वाला (यानी व्यक्ति के मरने पर उसके लिए नया घर बना देने वाला) न कोई देव है न ब्रह्मा। हेतु-प्रत्यय से यानी कारण-कार्य के नियमों से आवद्ध शुद्ध धर्म स्वतः प्रवर्तित होते रहते हैं।

अर्थात प्रकृति के बँधे-बँधाए नियमों के आधार पर भवचक्र चलता रहता है। वार-वार जन्मना, वार-वार मरना, वार-वार गर्भ में पड़ना, वार-वार चिता पर चढ़ाया जाना – यह क्रम चलता ही रहता है।

पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो – मूढ़ व्यक्ति वार-वार गर्भ में पड़ता है।

(ध० प० ३२५, नागवग्ग)

मूढ़ता के कारण ही यह नियमवद्ध भवचक्र चलता रहता है।

पुनप्पुनं जायति मीयति च – वार-वार जन्मता है, वार-वार मरता है।

पुनप्पुनं सिवथिकं हरन्ति – वार-वार लोग (उसे) श्मशान ले जाते हैं;

मग्गञ्च लद्धा अपुनब्भवाय – पुनर्भव से छूटने के मार्ग को पाकर,

न पुनप्पुनं जायति भूरिपञ्ञो - भूरिप्रज्ञ (अरहंत बुद्ध) बार-बार जन्म नहीं लेते। (सं० नि० १.१.१९८, अरकसुत्त)

बुद्ध बनने से पूर्व बोधिसत्त्व अनगिनत जन्मों में से गुजरे - **अनेकजातिसंसारं...**। (ध० प० १५३, कायकारी)

परंतु जन्म-मरण के इस भवचक्र से छूट कर ही बुद्ध बने, अरहंत बने।

भवचक्र से कैसे छूटे?

भवचक्र से छूटने का मार्ग जानने के पहले भवचक्र को जानना आवश्यक होता है; दुःखचक्र को जानना आवश्यक होता है। यह भवचक्र कब से चला आ रहा है, इस निरर्थक खोज में पड़ना आवश्यक नहीं है। भगवान ने बोधि प्राप्त की और भूतकाल की स्मृति जगने पर कहा - मुझे इस भवचक्र का आदि नहीं दीखता।

ततो बहुतरा खो, ब्राह्मण, कप्पा अब्भतीता अतिक्कन्ता, ते न सुकरा सङ्खातुं। (सं० नि० १.२.१३१, गङ्गासुत्त)

- ब्राह्मण, बहुत अधिक कल्प बीत चुके हैं उनकी गिनती की जानी संभव नहीं है।

जीते-मरते प्राणियों की पूर्व-कोटि नहीं जानी जाती यानी उनका आरंभ निश्चित नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण, इतने चिरकाल से दुःख, पीड़ा और विपत्ति भोगी जा रही है, श्मशान भरते जा रहे हैं।

अनमतग्गोयं, भिक्खवे, संसारो, पुब्बा कोटि न पञ्ञायति।

(सं० नि० १.२.१३४, दुग्गतसुत्त)

- भिक्षुओ, इस संसार के आदि का पता नहीं लगता है।

अतः समझदार व्यक्ति होगा, तो इस निरर्थक ऊहापोह में नहीं पड़ेगा कि भवचक्र का आरंभ कब हुआ। भवचक्र तो आज भी चल रहा है। घूमते हुए चक्र के कौन से बिंदु को आदि कहें भला!

बुद्ध बनने के पूर्व हर बोधिसत्त्व के सामने यही प्रश्न उभरता है।

किच्छं वतायं लोको आपन्नो - अहो, संसार कष्ट में पड़ा है,

आयति च जीयति च मीयति च चवति च उपपज्जति च;

- जन्मता है, जीर्ण होता है, मरता है, च्युत होता है, और फिर उत्पन्न होता है;

अथ च पनिमस्स दुक्खस्स निस्सरणं नप्पजानाति जरामरणस्स।

(सं० नि० १.२.४, विपस्सीसुत्त)

- इस (बार बार के) जरा-मरण के दुःख से निकलना नहीं जानता।

इसे जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि यह भवचक्र चलता कैसे है?

किसी बुद्ध की बोधि जागती है, तो अज्ञान का अंधेरा दूर होता है। तभी यह स्पष्ट अनुभव होता है कि भवचक्र की नाभि सदृश यह अविद्या है, जिसकी धुरी पर यह चक्र चलता रहता है। इस अविद्या के कारण ही कर्म संस्कार बनते हैं। वे कर्म संस्कार जो नया जन्म देने में समर्थ होते हैं, उनसे नये जन्म का विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। इसे ही प्रतिसंधि विज्ञान कहते हैं। इस विज्ञान के कारण नाम-रूप का यानी चित्त और शरीर का प्रपंच चल पड़ता है। नाम-रूप के कारण छः आयतन यानी पांच शारीरिक (आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) तथा एक मन - यों छः इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इन छः इंद्रियों के कारण रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य पदार्थ और धर्म (यानी चित्त जिसे धारण करे) इन छः लौकिक विषयों से इनका स्पर्श होता है। स्पर्श के कारण वेदना होती है। वेदना के कारण तृष्णा होती है। सुखद को प्राप्त करने अथवा रोके रखने की तृष्णा, दुःखद को दूर रखने अथवा दूर करने की तृष्णा। तृष्णा के कारण उपादान यानी आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति के कारण भव बनाने वाले गहरे कर्म-संस्कार बनते हैं। ऐसे भव-संस्कार के कारण ही पुनः जन्म होता है। जन्म होता है तो जरा, मरण शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दुःखों का समूह उत्पन्न हो जाता है।

जब बोधि जागती है, तब यह दुःखमय भवचक्र खूब समझ में आता है -

अविज्जापच्चया सङ्खारा,
सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं,
विञ्ञाणपच्चया नामरूपं,
नामरूपपच्चया सळायतनं,
सळायतनपच्चया फस्सो,
फस्सपच्चया वेदना,
वेदनापच्चया तण्हा,
तण्हापच्चया उपादानं,
उपादानपच्चया भवो,
भवपच्चया जाति,
जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति।

इस प्रकार संपूर्ण दुःख-स्कंध का समुदय हो उठता है।

प्रत्यय होता है, तो उत्पाद होता है। कारण होता है, तो परिणाम उत्पन्न होता है। बीज होता है, तो फल उत्पन्न होता है। निसर्ग का यह सर्वव्यापी धर्म है। यही सार्वजनीन, सार्वकालिक, सार्वदेशिक धर्म है, जो सब पर, सब समय, सब स्थानों पर एक जैसा लागू होता है। किसी का पक्षपात नहीं करता। किसी पर कृपा या कोप नहीं करता।

इमस्मिं सति इदं होति - इसके होने से यह होता है।

इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति - इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है।

शुद्ध वैज्ञानिक बात है। इसमें निकम्मी, निरर्थक, दार्शनिक मान्यताओं के लिए भला अवकाश कहां है!

बोधि जागी, तो प्रत्यय के आधार पर उत्पाद होने की यह नैसर्गिक सच्चाई खूब समझ में आ गयी। दुःख समझ में आ गया। दुःख का मूल कारण समझ में आ गया। भवचक्र समझ में आ गया। भवचक्र को बनाने और चलाने वाली ऊर्जा का रहस्य समझ में आ गया। जब-जब कोई प्राणी अविद्या के अंधकार का जीवन जीता है, तब रागमयी या द्वेषमयी तृष्णा जगाता रहता है और भवचक्र को यानी अपने दुःखचक्र को चलायमान रखता है, रुकने ही नहीं देता। प्राणी अच्छे बुरे कर्मों के आधार पर स्वयं अपना संसार-कारक है, गृहकारक है। किसी बाहरी सृजक व्यक्ति के लिए यहां कोई अवकाश ही नहीं है।

दुःख और दुःख के कारण की सच्चाई सर्वव्यापी और सार्वजनीन है। नैसर्गिक नियमानुकूल **सुद्धधम्मा पवत्तन्ति** शुद्ध धर्म प्रवर्तित होते रहते हैं। ठीक वैसे ही दुःख के कारण का निवारण और उस निवारण के उपाय की सच्चाई भी शुद्ध वैज्ञानिक है, सर्वव्यापी और सार्वजनीन है।

इमस्मिं असति इदं न होति - इसके न होने से यह नहीं होता है।

इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति - इसके निरोध हो जाने से यह भी निरुद्ध हो जाता है।

स्पष्ट है कि दुःख के कारण का निरोध होगा तो दुःख का निरोध स्वतः हो जायेगा। बीज ही नहीं रहेगा, तो फल कहां से आयेगा? प्रत्यय ही नहीं रहेगा, तो समुत्पाद कैसे होगा?

यानी भीतर का होश जागे और बेहोशी दूर हो। यों अविद्या का निरोध हो तो कर्म-संस्कारों का निरोध अपने आप हो जाता है। कर्म-संस्कारों का निरोध हो तो नये जन्म के प्रतिसंधि विज्ञान का निरोध अपने आप हो जाता है। विज्ञान का निरोध हो तो नाम-रूप का; नाम-रूप का निरोध हो तो छः इंद्रियों का; छः इंद्रियों का निरोध हो तो स्पर्श का; स्पर्श का निरोध हो तो वेदना का; वेदना का निरोध हो तो तृष्णा का; तृष्णा का निरोध हो तो उपादान (आसक्ति) का; उपादान (आसक्ति) का निरोध हो तो भव का; भव का निरोध हो तो जन्म का; जन्म का निरोध हो तो जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास का अपने आप निरोध हो जाता है। इस प्रकार दुःखों का कितना ही बड़ा समूह क्यों न हो; सारा का

सारा निरुद्ध हो जाता है, जड़ से उखड़ जाता है, फिर सिर उठाने लायक नहीं रहता। सीधी सी बात है- पहले अविद्या को जड़ से उखाड़ें।

अविज्जाय त्वेव असेसविरागनिरोधा सङ्खारनिरोधो,
सङ्खारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो,
विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो,
नामरूपनिरोधा सळायतननिरोधो,
सळायतननिरोधा फस्सनिरोधो,
फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो,
वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो,
तण्हानिरोधा उपादाननिरोधो,
उपादाननिरोधा भवनिरोधो,
भवनिरोधा जातिनिरोधो,
जातिनिरोधा जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होतीति।

(उदा० १-३, पठमबोधिसुत्त, दुतियबोधिसुत्त, ततियबोधिसुत्त)

निसर्ग के सार्वजनीन नियमों के अनुसार शुद्ध धर्म की यह बात स्पष्टतया समझ में आती है कि जिन कारणों से दुःख की उत्पत्ति होती है, उनको जड़ से उखाड़ दिये जाने पर दुःख अपने आप जड़ से उखड़ जाता है। इस निरंतर चलते हुए दुःखचक्र को ध्यान से देखने पर उसके कारणों को उखाड़ने का मार्ग भी स्पष्ट दीखने लगता है। अविद्या के अंधकार में पड़े हैं, तृष्णा के बंधन में बँधे हैं, इसीलिए आवागमन के भवचक्र में पिसे जा रहे हैं।

अविद्या है यानी भीतरी ज्ञान नहीं है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। सुने-सुनाये परोक्ष ज्ञान से बुद्धि के स्तर पर इस आवागमन के चक्र को हजार समझ लें, परंतु अपनी प्रज्ञा जागे बिना निस्तार नहीं होता। मोह का अंधकार बना रहता है। रूप, शब्द, गंध, रस, और स्प्रष्टव्य पदार्थ से अथवा इनके न होने पर प्रिय-अप्रिय के चिंतन के स्पर्श से भीतर ही भीतर सुखद या दुःखद वेदना निरंतर जागती रहती है। वेदना जागती है, परंतु इसका होश नहीं

रहता। इसी कारण राग (लोभ) या द्वेष की तृष्णा जगाये जाते हैं, परंतु जब इसका भी होश नहीं रहता तो दुःख-चक्र टूटेगा कैसे? अविद्या टूटेगी यानी भीतर बेहोशी वाला मोह टूटेगा, तो सुखद-दुःखद वेदनाओं के प्रति लोभमयी, द्वेषमयी तृष्णा की प्रतिक्रिया बंद होगी। इस प्रकार भवचक्र दुर्बल होते-होते टूटता चला जायेगा। इसके लिए शील, समाधि और प्रज्ञा का अनवरत अभ्यास करते रहना होगा। इस अभ्यास से भवचक्र की अविद्या रूपी नाभि दुर्बल होती जायेगी। लोभ, द्वेष की प्रतिक्रियाओं की ऊर्जा कमजोर होती जायेगी। अतः भवचक्र की नेमि दुर्बल होती जायेगी। इन दोनों के दुर्बल होने पर चक्र के सभी आरे लड़खड़ा उठेंगे। उन्हें ठोस आधार नहीं मिलेगा और परिणामतः पूरा का पूरा दुःखचक्र धराशायी हो जायेगा, धूल-धूसरित हो जायेगा।

इसी विद्या द्वारा बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम सम्यक संबुद्ध बने। उन्होंने भवचक्र के आरे नष्ट कर दिये। इसी माने में अरहंत बने।

अरा संसारचक्कस्स, हता ञाणासिना यतो।
लोकनाथेन तेनेस, अरहन्ति पवुच्चति॥

(विसुद्धि० १.१२८, बुद्धानुस्सतिकथा)

- क्योंकि लोकनाथ भगवान बुद्ध द्वारा संसारचक्र के आरे ज्ञान की तलवार द्वारा काट दिये गये, इसलिए वे अरहंत कहलाते हैं।

भवचक्र के आरे कैसे काटते हैं?

दुःख और दुःख के कारण स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुलोम सत्य को जान लेते हैं। दुःखनिरोध और दुःखनिरोध के मार्ग स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिलोम सत्य को जान लेते हैं। जीवन-जगत की इन चार सच्चाइयों को अनुभूति के स्तर पर प्रतिपत्ति और प्रतिवेधन द्वारा साक्षात्कार कर लेने से ही कोई व्यक्ति अविद्या से विमुक्त होता है, तो ही भवचक्र काटता है, तो ही अरहंत होता है, सम्यक संबुद्ध होता है।

ये हि केचि, भिक्खवे, अतीतमद्धानं अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा यथाभूतं अभिसम्बुज्झिसु, सब्बे ते चत्तारि अरियसच्चानि यथाभूतं अभिसम्बुज्झिसु।

– भिक्षुओ, अतीतकाल में जिन-जिन अरहंत सम्यक संबुद्धों ने यथाभूत सत्य का अभिसंबोध किया, उन सभी ने इन चार आर्यसत्यों का यथाभूत अभिसंबोध किया।

ये हि केचि, भिक्खवे, अनागतमद्धानं अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा यथाभूतं अभिसम्बुज्झिस्सन्ति, सब्बे ते चत्तारि अरियसच्चानि यथाभूतं अभिसम्बुज्झिस्सन्ति।

– भिक्षुओ, अनागत काल में यानी भविष्य में जो जो अरहंत सम्यक संबुद्ध होंगे और यथाभूत सत्य का अभिसंबोध करेंगे, वे सभी इन चार आर्यसत्यों का यथाभूत अभिसंबोध करेंगे।

ये हि केचि, भिक्खवे, एतरहि अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा यथाभूतं अभिसम्बुज्झन्ति, सब्बे ते चत्तारि अरियसच्चानि यथाभूतं अभिसम्बुज्झन्ति।

(सं० नि० ३.५.१०९४, अरहन्तसुत)

– भिक्षुओ, वर्तमान काल में भी जो अरहंत सम्यक संबुद्ध हुए हैं और जिन्होंने यथाभूत सत्य का अभिसंबोध किया है, उन सभी ने इन चार आर्यसत्यों का यथाभूत अभिसंबोध किया है।

चार आर्यअत्यों का अभिसंबोध करके ही भगवान बुद्ध अरहंत हुए।

अरहंत हुए तो ही बुद्ध हुए। अरहंत हुए तो ही पूज्य हुए।

दक्खिणं पटिग्गहितुं अरहतीति अरहं – जो दक्षिणा ग्रहण करने योग्य हैं, पूज्य हैं, वे ही अरहंत हैं।

भगवान बुद्ध पूज्य हुए, प्रणम्य हुए, नमन्य हुए, वंद्य हुए, वरेण्य हुए; क्योंकि भगवान बुद्ध अरहंत हुए।

इतिपि सो भगवा अरहं।

आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (बर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे बर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूब धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार बर्मा के ही नहीं, बल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तब किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण बन गयी है।

सयाजी ऊ बा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अभ्यास करने के साथ बुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंबई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र बना और अब तक विश्वभर में लगभग १९४ केंद्र बन गये हैं तथा नित नये बनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १५०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भाषाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, [illegible]दों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सब का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वेच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 978-81-7414-288-7

VRI - H43